सत्संग-वाटिका

लेखक :

ब्रह्मलीन संत श्री सत्येन्द्र प्रसाद (मालिक जी)

रामाश्रम सत्संग, मथुरा

सत्संग-वाटिका

*

*

लेखक :

ब्रह्मलीन सन्त सत्येन्द्र प्रसाद (मालिक जी)

*

*

रामाश्रम सत्संग, मथुरा

प्रकाशक :
साधन प्रकाशन
डैम्पियर नगर, मथुरा

मूल्य ÷ 25/- रुपये

मुद्रक :
साधन प्रेस
डैम्पियर नगर, मथुरा

☆ सादर समर्पण ☆

❀

ब्रह्मलीन परम सन्त डा० बृजेन्द्र कुमार जी (बड़े भैया)

के

पावन-चरणों में

ब्रह्मलीन सन्त सत्येन्द्र प्रसाद (मालिक जी)

द्वारा

चुने हुए कुछ पुष्पों

की

एक माला पिरो कर अर्पित

-- राम बिभीषण

सत्संग-वाटिका का एक अनुपम माली

गया में एक गाँव है -- पंडुई । वहाँ के जमींदार थे श्री राजेश्वरी प्रसाद सिंह । एक दिन संयोग से उन्हें 'साधन' पत्रिका प्राप्त हुई । गुरु महाराज के प्रति मन में जिज्ञासा हुई । वह गुरुजी के दर्शन करने एटा पहुँचे । उनकी व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि गुरु महाराज को बिहार आमन्त्रित किया । १९३७ में गुरु महाराज प्रथम बार बिहार पधारे । बिहार की भूमि गुरुजी के चरण स्पर्श से पवित्र हो उठी । एक दिन श्री राजेश्वरी प्रसाद सिंह जिन्हें लोग प्रेम से बिहारी जी कहते थे, एटा पहुँचे और गुरु महाराज के चरणों में दो पुष्प (वंशबाबू और सत्येन्द्र बाबू) अर्पित किये । गुरुजी में उनकी अटूट श्रद्धा और भक्ति थी ।

रेलवे की साधारण सी नौकरी थी -- पर सिर पर था, परिवार का सारा बोझ । सत्संगी भाइयों का स्वागत सत्कार, पर कभी आपने अपने चेहरे पर शिकन नहीं आने दी । भोला-भाला सौम्य साँवला चेहरा सदा मधुर मुस्कान ही बिखेरता रहा ।

कभी किसी के व्यवहार से खिन्न हो आपने श्री महाराज को एक पत्र लिखा । उसका उत्तर आया -- "दुनिया तुमको जो समझे, मैं तुझे प्यार करता हूँ बहुत प्यार करता हूँ ।" फिर ऐसे शिष्य के भाग्य का क्या कहना ?

भोजपुर जिला के कल्याणपुर गाँव के आप रहने वाले थे पर आपका जन्म अपने ननिहाल बेलाउर ग्राम में १६१८ में हुआ । रेलवे की नौकरी करते हुए भी आप सत्संग का कार्य करते रहे ।

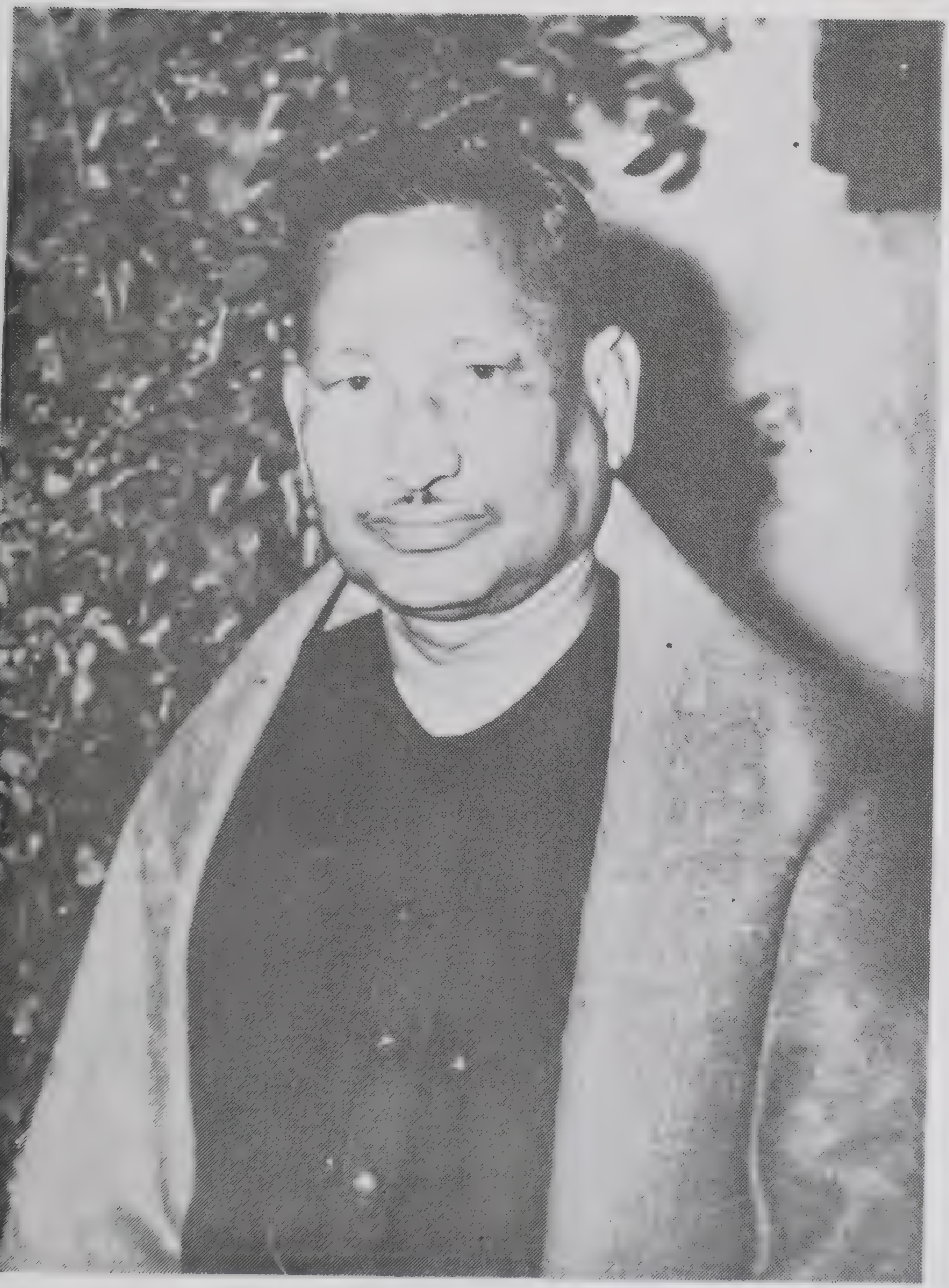
पूज्य डा० नरेन्द्र कुमार जी (छोटे भैया) के साथ पटना, मुजफ्फरपुर, धनबाद होते हुए लखनऊ भण्डारे में पधारे । सत्संग का आयोजन था उसमें सम्मिलित हुए । अन्तिम बैठक में, आपने कहा -- गुरु महाराज ने जो काम सौंपा था, वह पूरा हो गया । फिर उसी रात १३-१०-८१ को करीब २ बजे, आप गुरुधाम में प्रवेश कर गये ।

परम सन्त डा० बृजेन्द्र कुमार जी (बड़े भैया) ने भाव विह्वल होकर कहा -- सन्येन्द्र बाबू ने प्रेम से सबको साथ लेकर पूरी लगन से श्री गुरु महाराज के सत्संग मिशन की सेवा में अपना सारा जीवन लगा दिया । हमें भी उसी तरह सत्संग (मिशन) की सेवा करनी चाहिए, यही हम सबकी उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी ।

प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं अविस्मरणीय एवं वन्दनीय गुरुभक्त ब्रह्मलीन सन्त सत्येन्द्र प्रसाद (मालिक जी) के लिखे लेखों और कुछ प्रवचनों को लेकर "सत्संग-वाटिका" में सजाया गया है । जो अध्यात्म के जिज्ञासुओं के लिए अवश्य ही उपयोगी होगा ।

-- रामविभीषण सिंह

विषय-सूची



ब्रह्मलीन सन्त श्री सत्येन्द्र प्रसाद (मलिक जी)

विवशता

****

☆

आओ ! आओ !! मेरे हृदय मन्दिर के आराध्य देव ! आओ ! एक बार अपनी मृदु मुस्कान की झाँकी दिखला जाओ ! भक्त वत्सल ! भक्त तुम्हारा दर्शन चाहता है । वह तुम्हारी पूजा करना चाहता है ।

भगवन् ! देखो न ! पूजा की सामग्री कब से तैयार रक्खी है । पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य आदि सब इकट्ठा हो चुका है । तुम्हें पहनाने के लिये अधिखिले गुलाब की माला गूँथ चुका हूँ मैं, तुम्हारे दिव्य-स्वरूप की प्रेमपूर्वक आरती उतारने के लिये सुन्दर-सुगन्धित थाल सजा चुका हूँ ।

किन्तु प्रियतम ! अब केवल तुम्हारी ही देर है । अन्तर्यामी -- प्रभो ! हृदय-समुद्र में प्रतिक्षण तुम्हें बुलाने की ही भाव तरंगें उठ रही हैं । नेत्र-द्वार के पलक-कपट खुले हुए तुम्हारे आगमन की सुखद घड़ियों की बाट जो रहे हैं । हे स्वामी ! अब अधिक विलम्ब न करो । प्रतीक्षा का प्रतिपल हृदय में काँटे की तरह चुभ कर विरह-वेदना को असहाय बना

रहा है । कृपा-सिन्धु ! कृपा कर हृदय की अभिलाषा पूर्ण करो, दर्शन दो ।

शास्त्र कहता है कि भगवान दयालु हैं, दीनबन्धु हैं, आरत दुःख-हरण हैं एवं भक्त भयहारी हैं । भक्तों के हित के लिए उचितानुचित सब कुछ करते हैं । दीन दुःखियों की पुकार सुनकर दौड़े चले आते हैं । परन्तु .....

उषाकाल आता है । प्रकृति देवी अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य-राशि की एक अलौकिक झाँकी प्राणियों को देती तथा उनमें नवजीवन का संचार करती है । पक्षियों से कलरव सुनायी पड़ने लगते हैं । संसार रात्रि के घोर अन्धकार से हटकर, ज्योति-धाम दिवाकर के प्रकाश में आता है । सब लोग अपने-अपने कार्य में नयी स्फूर्ति से लग जाते हैं । मैं भी इस आशा को लिये हुये कि आज प्राण-प्रियतम के दर्शन प्राप्त होंगे, अपनी आँखें खोलता हूँ । अतिशीघ्र नित्य-क्रिया से निवृत् होकर पवित्र हो, सदा की भाँति पूजा की सामग्री ठीक कर अपने प्यारे भगवान की प्रतीक्षा में बैठ जाता हूँ । हृदय के बीच यह आशा जागृत हो जाती है कि आज तो प्रभु की दया होगी ही, आज मैं उनका दर्शन पाकर अनन्तकाल से तृषित नयनों को तृप्त करूँगा ही, उनके परम पवित्र चरणों में अपने को अर्पण कर, जीवन सफल बनाऊँगा ही, परन्तु प्रतीक्षा में प्रहरियाँ समाप्त हो जाती हैं और प्रियतम नहीं आते । अन्त में, सूर्य अपनी प्रखर किरणों को समेट संसार से विदा ले, क्षितिज की आड़ में जाने लगते हैं और मैं .... !

इस जीवन में मैंने कितनी ही, उषा-सन्ध्या देखी, सर्दी-गर्मी देखी, दीपों को जलते-बुझते देखा, उत्थान और पतन देखा

तथा संसार के विचित्र पहलुओं को देखा परन्तु प्यारे, तुम्हें न देखा। तुम कह सकते हो -- अभी प्रेम की कमी है, ये तुम्हारे हृदय के भाव नहीं, ढोंग हैं। इस प्रकार तुम दर्शन न देने का बहाना भले ही कर सकते हो, पर यथार्थ तो यह नहीं है। भक्त वत्सल ! सच तो बताओ -- क्या गोपियों के प्रेम में भी कमी थी ? क्या उनके भी भावों में शुद्धता नहीं थी ? उन्हें क्यों तड़पना पड़ा ? श्री राधा जी, जो कृष्ण के प्रेम में श्याम-श्याम को रट कर गौर से श्याम वर्ण हो गईं तो क्या उनके भी प्रेम में कुछ कमी रह गयी थी, जो उन सब को वियोगिनी बना विलखती-तड़पती छोड़ कर, मथुरा जा बसे ? मथुरा वासी ! भक्तों के प्रति यह तेरी निष्ठुरता नहीं तो और क्या है ?

बेचारी गोपियाँ विरह-वेदना की आग में अपने को जलाने लगीं। श्री यमुनाजी का शीतल जल, लता-कुँजों से आच्छादित सघन वन की शीतल छाया भी, उनकी तपन को शान्त न कर सकीं। गोपियों ने तुम्हारे लिए उचित अनुचित सभी कर्मों को निशंक हो कर किया, फिर भी तुम्हारे वज्र सदृश कठोर हृदय को पिघला न सकीं, आजीवन तड़पती ही रह गईं। तुम्हारी कठिन परीक्षा में इतने पर भी कदाचित, वे उत्तीर्ण न हो सकीं।

प्रभो ! तुम अपने भक्तों की प्रेम-परीक्षा तो लेते हो, परन्तु क्या कभी उनकी कठिनाइयों व विवशताओं की ओर भी देखते हो कि कितनी कठिनाइयाँ उन पर आती हैं ? तुम्हारी ही माया, तुम्हारे समीप जाने में कितने विघ्न व रुकावटें उपस्थित करती है। एक ओर तो सांसारिक गृहस्थी का बोझ है, दूसरी ओर तुम्हारी मिलन-लालसा छाती को दबोच रही है।

इन बोझों से जीवन-नौका यों ही दबी जा रही है फिर इसको अथाह भवसमुद्र खेना है, भीषण तूफान में उड़ती हुई प्रचण्ड भँवरों से बचाना है, तिस पर भी तुम्हारी चैतन्य-माया सदैव मुँह फाड़े निगलने की ही ताक में लगी रहती है । नाथ ! कैसी विकट और दुर्गम समस्या है ?

हृदय तो तड़पता है कि कैसे तुम्हें पाऊँ ? जी तो चाहता है कि तुम्हारी शरणागति मिले, तुम्हारी भक्ति मिले । परन्तु भगवन् ! तुम्हीं बताओ -- चारों ओर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो और उसके मध्य रहने वाले मनुष्य को ताप न लगे ?

यह सम्भव तो नहीं किन्तु फिर भी असफलता के कारण तुम चाहो तो डण्डे लगा सकते हो ।

।। ओम् शम् ।।

बज्रपात

****

☆

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ।।

श्री तुलसीदास के इस दोहे का पाठ तो शायद मनुष्य कर लेता है परन्तु सत्संग की, जो इतनी महिमा है, इस पर उसे निरन्तर सन्देह ही बना रहता है । कल्पना में तो स्वर्ग का ही सुख महान है और इसी की प्राप्ति के लिये ही जप-तप, दान-पुण्य, इत्यादि सभी कार्य किये जाते हैं । सुख की पराकाष्ठा तो स्वर्ग में ही मानी जाती है परन्तु स्वर्ग तथा अपवर्ग से भी ज्यादा सुख एक क्षण के सत्संग में है । यह बात लोगों की समझ में नहीं आती । कुछ लोग तो कवि की इस उक्ति पर असन्तोष के शब्द प्रकट करते हैं और कुछ और दुर्लभ तथा अज्ञेय कह कर टाल देते हैं । दोष उनका भी क्या कहा जाए ? मन पर चढ़े हुए मल तथा आवरण ही उन्हें ऐसा करने को बाध्य करते हैं । वे कैसे हटें जिससे इसका वे अनुभव कर सकें, यही समस्या विकट हो जाती है । मानवता के विकास के साथ पाशविक वृत्तियाँ भी तो उग्ररूप धारण कर

लेती हैं । तामसिक ज्वाला में तो मानव जलता ही रहता है । साथ-साथ ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि की लपट भी, उसे झुलसाती रहती हैं फिर सुख जैसी वस्तु कहाँ से नसीब हो ? यह केवल सत्संग से मिल सकता है, जो इस युग में असम्भव सा है ।

परन्तु बलिहारी उस परम सन्त की, जिसने सत्-लोक से सत्संग की गंगा को उतार, जन साधारण तक पहुँचाया, असम्भव को सम्भव किया और अज्ञेय को ज्ञेय बनाया । ब्रह्म सुख, जो महान कठिनता से प्राप्त होता है, उसका सरल और सुगम रास्ता बताया, तुलसीदास के उपरोक्त कथन को सत्य कर दिखाया और उस सिद्धान्त को व्यवहार में लाकर, जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कराई । उस परम सन्त ने सत्संग श्रृंखला का निर्माण कर दुःखी तथा संतप्त जीवों के उद्धार के लिए एक पुनीत व्रत लिया । 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का नारा लगाया । अपनी शक्ति तथा पुरुषार्थ से दूसरों के हृदय पर चढ़े हुए मल और आवरण को हटा, उसे निर्मल और पवित्र बनाकर शान्ति और आनन्द का अनुभव कराया । लोग उनके सम्पर्क में आकर तृप्त और सन्तुष्ट होने लगे । उनके विचार बदलने लगे, सद्भावना आने लगी और सद्गुण आप से आप उतरने लगे ।

इस अमृत भण्डार का पता जब लोगों को लगा त सहस्त्रों जिज्ञासु इस केन्द्र की ओर दौड़ पड़े, इस विलक्ष विभूति का प्रभाव सर्वत्र फैलने लगा । सत्संग का सौरभ मु भी इस केन्द्र तक खींच लाया । परम सन्त के दर्शन हुए, दे प्रभु की आह्लादिनी शक्ति का प्रभाव विराज रहा है, आन

और शान्ति सेवा कर रही है । इस वातावरण में अपने को पाकर निहाल हुआ कृतज्ञता से उनके चरणों में मस्तक झुक गया । प्रार्थना की -- 'गुरुदेव ! आपकी आज्ञा हो तो जिज्ञासुओं को दरबार में पेश करूँ ।' मेरा अनुमान था कि बहुत से लोग इस शान्ति की खोज में इधर-उधर भटक रहे हैं, ठीक रहबर नहीं मिलता, उनके लिए तो यह स्वर्ण अवसर ही होगा । आपने प्रसन्न होकर आज्ञा दे दी । खुशी हुई, हिम्मत बँधी और लोगों को इस तरफ लाने के प्रयत्न में लग पड़ा । उनकी इस सेवा में आनन्द लेने लगा । अधिक से अधिक जिज्ञासुओं को उस अमृत घूँट को पिलाने की प्रतिज्ञा की । लोग दर्शन कर कृत-कृत्य होने लगे । मैं कर्तव्य-पथ पर बढ़ता जा रहा था परन्तु --

ऊँच निवास नीच करतूती ।
देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥

देवताओं से मनुष्यों की यह उन्नति नहीं देखी गई तथा उन्हें मनुष्य के इस अमन चैन से ईर्ष्या होने लगी । अपने से भी अधिक सुखी देख सबने एक राय की, और वैकुण्ठ पहुँचे । भगवान से प्रार्थना की -- प्रभो ! आपके सृष्टि-क्रम में उलट-फेर हो रहा है । इस घोर कलियुग में भी, मनुष्य सतोगुण की ओर बढ़ रहा है, पाप-परायण होने के बदले, सत्संग चर्चा और भगवत भजन में रत है और विरोध के बदले प्रेम अपना रहा है । कलियुग का महत्व विरोध में है परन्तु आज सारे भारत के लोग प्रेम से मिलकर भण्डारा कर रहे हैं । आपस में प्रेम और सद्व्यवहार कर रहे हैं । कलियुग की मर्यादा तथा नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं । यह प्रकाश परम सन्त जी फैला रहे हैं ।

नव-दुर्गा का प्रथम प्रभात हुआ । दिवाकर की रश्मियों में, आज कुछ कर्कशता और झुँझलाहट थी । प्रकृति किसी महान शोक में मौन थी । अचानक आकाश तत्व में एक भयानक शब्द हुआ -- 'बज्रपात' ! 'बज्रपात' ! अरे गुरुदेव, हम लोगों को छोड़ कर चल बसे । हाहाकार मच गया । भक्त वृन्द आकुल-व्याकुल हो तड़पने लगे । कमल-वन पर जैसे तुषारापात हुआ । श्री गुरुदेव अपने अनेक शिष्यों को रोते-बिलखते छोड़ निजधाम लौट गए । देवताओं का आग्रह भगवान ने मान लिया । मेरी आँखों के सामने अन्धेरा छा गया । पीछे उत्सुक जनता की भीड़ न देख सका, उधर से आँखें फेर लीं । समझ नहीं पाया, किधर जायें, क्या करें ? सोचा पृथ्वी फट जाती तो उसमें समा जाता और इसी सोच में अचानक कुछ अचेत सा हो गया । परन्तु इसी समय गुरुदेव के ये शब्द कानों में सुनाई पड़े और हिम्मत आई ।

.... जिन-जिन आत्माओं के सुपुर्द लोक-कल्याण या परमार्थ शिक्षा का काम होता है, वह मोक्ष-धाम से भी अपने प्रेमियों पर अमृत-वर्षा करती रहती हैं । उनको ऊँचा उठाती और निजधाम को खींचती रहती हैं । कभी-कभी वह दिव्य आत्मा अपने प्रेमियों के समीप दिव्य रूप से अथवा उसी पुराने स्थूल रूप से दर्शन भी दे देती हैं । जैसे सहायता तुमको उस समय मिल रही थी, उससे भी अधिक इस समय तुमको मिलेगी, यह तुम्हें प्रकट रूप से अनुभव होगा ।

अंतर्व्यथा

****

☆

हे पिता ! जब से आप गये, आपका कोई समाचार न मिला । इसके लिए प्रयास तो मैंने बहुतेरा किया लेकिन कुछ निश्चित जानकारी नहीं हो सकी ।

मेरी दशा आपके जाने के बाद उत्तरोत्तर दयनीय होती गयी । जीवन की सारी उमंग, उत्साह प्रायः समाप्त ही हो गया । कान्ति और तेज भी धूमिल पड़ गया । जिसे आपने बड़े यत्न से लालन-पालन कर योग्य बनाया था और शायद जिससे आपने बड़ी-बड़ी उम्मीद बाँधी थी, वे सारे हौसले समाप्त हो गए ।

जब आप थे बहार थी, जिन्दगी थी, जिन्दगी की रौनक थी । आपके ही कारण, सारे जगत का प्यार और स्नेह मिलता था । प्रकृति भी अपने सौन्दर्य और सौरभ से हमारा अभिनन्दन करती थी । उषा की मधुरतम बेला अपनी बीन बजाकर जगाती थी, रात्री की नीरवता शयन के लिये आमंत्रित करती थी । मैं भी सारे विश्व को अपना समझता था और सभी में

अपना रूप देखता था और आनन्द की सीमा न थी । ब्रह्माण्ड के कण-कण से माधुर्य और सौन्दर्य ही टपकता था । सूरज, चाँद, सितारे हमारे खिलौने थे, परन्तु आपके जाते ही सभी अनुकूल वस्तुयें प्रतिकूल होती दिखाई पड़ रही हैं । प्रकृति भी कुछ रुष्ट सी ही प्रतीत होती है । पुष्प तथा पुष्प-वाटिका से भी भय लगता है । मित्रों में प्रेम की भावना नहीं दीख पड़ती । फूलों में काँटे ही अधिक दिखाई पड़ते हैं । मालूम होता है कि संसार रस-हीन हो गया है फिर वही दिन, वही रात्रि तथा गर्मी-सर्दी का चक्र आनन्द-विहीन बनता जा रहा है ।

शरीर, जो कभी कान्ति और प्रकाश से भरा रहता था, वही आज व्याधि और कुसंस्कार का घर बना प्रतीत होता है । भक्त ध्रुव की गाथा से जानकारी होती है कि पिता की गोद न मिलने से दुःखी हो, परमात्मा के भजन में लग गया और उस अलौकिक पद को प्राप्त कर गया, जिसे बड़े-बड़े तपस्वी भी न पा सके । लोग मुझे भी इसी तरह की राय देते हैं । सब कहते हैं -- भजन करो लेकिन प्रभु का भजन चिन्तन करना कठिन है, महान है कि हम संसारी जीव उसे अपना ही नहीं सकते । संसार के प्रलोभन तथा प्रपंच हठात् अपनी ओर खींच ही लेते हैं । मैंने अत्यन्त चेष्टा की कि उस परमेश्वर की आराधना करूँ, भक्ति करूँ तथा संसार के दुःखों से निवृत्त हो जाऊँ लेकिन मेरे लिये यह पाठ अत्यन्त दुष्कर सिद्ध हो रहा है ।

हे पिता ! मन की वृत्तियों के समेट कर प्रभु-चिन्तन में लगाने की पूरी चेष्टा करता हूँ । सभी नियमों को भी अपनाना चाहता हूँ, परन्तु हाथ असफलता ही आती है । संसार सा

में तैरता तो हूँ लेकिन उसकी लहरें चपेट दे देकर फिर किनारे लौटा देती हैं । क्या करूँ ? आप ही बतावें ।

पुत्र को तो पिता का वात्सल्य चाहिये । उसी में उसकी तृप्ती है, प्रसन्नता है, शान्ति है । अह वह कैसे उपलब्ध हो ? सोचते-सोचते प्रातः से सन्ध्या हो जाती है । रात में चाँद और सितारों से भी आपका पता पूछता हूँ नदी और पहाड़ों से भी पूछता हूँ । प्यासे नयन विस्तृत आकाश को दूर तक निहारते हैं, लेकिन कोई उत्तर नहीं मिलता । अब, बस आरजू यही है कि फिर उस वीरान को आबाद करो, कफस को चमन बनाओ, जीवन सार्थक करो, प्रभु, एक बार फिर आओ ।

"तुम कहीं रहो, मैं कहीं रहूँ
इतनी विनती मेरी सुनना
बुझ जाय नहीं दीपक मेरा
प्राणेश कृपा कर आ जाना"

शान्ति का स्रोत-ज्ञान

****

☆

जब तक अज्ञान है तभी तक बन्धन और कष्ट हैं। शान्ति मुक्ति का स्वरूप है। इसीलिए ज्ञान का सूर्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, अन्धकार के परमाणु प्रकाश में परिणत होते जाते हैं। लोग कहते हैं कि ज्ञान का मार्ग बड़ा कठिन है, खाँडे की धार के तुल्य है, जो पार हो गया, वह हो गया नहीं तो ऐसा गिरता है कि ठिकाना नहीं मिलता। अतः भक्ति ही ऐसा साधन है, जो बड़ा सरल और शीघ्र फलदायक होता है। पर बात ऐसी नहीं है, भक्ति का मार्ग भी उतना ही कठिन है, जितना कि ज्ञान का। भक्ति और ज्ञान दोनों मिले-जुले ही हैं। ज्ञान से भक्ति हो सकती है और भक्ति से ज्ञान। यदि इनमें एक चीज नहीं तो उसका परिणाम शान्ति नहीं निकल सकता, क्योंकि आज तक कोई ऐसा भक्त नहीं मिला, जिसे ज्ञान नहीं हुआ हो और न कोई ऐसा ज्ञानी ही देखा, जिसको उस सत्ता के प्रति प्रेम या भक्ति पैदा न हुई हो।

ज्ञान का अर्थ है जान लेने का। जान लेना और ज्ञात

हो जाना, एक ही बात है । फिर, जिसमें जो बात जानी जायेगी, उससे प्रेम होगा ही, इसी को श्रद्धा का नाम दिया है। संसार में आज तक जितने भक्त हुए हैं, उन सबने ज्ञान से ही शान्ति का दर्शन किया और उसी के सहारे संसार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की । शान्ति का अर्थ है -- समाधान ! जब मन में उठने वाले अनेक प्रकार के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मिल जाता है तभी शान्ति मिलती है । यथार्थ ज्ञान सबके अन्दर है क्योंकि वह आत्मा का प्रकाश है और आत्मा हमारे हृदय-देश का राजा है, परन्तु प्रकृति के गुणों ने उसे ढक रखा है । इसलिए जो ज्ञान हमारी बुद्धि या मन पर आता है, वह सत, रज, तम के शीशों में होकर आता है और उसी प्रकार का रंग (प्रभाव) हमारे मन पर डालता है । इस तरह हम यथार्थ ज्ञान से वंचित रह जाते हैं और अशांति का दुख भोगते हैं । एक ही वस्तु जो हमें अज्ञान में दुःखदायी प्रतीत होती है, ज्ञान मिलते ही सुख देने लगती है ।

एक रस्सी, जो मलिन प्रकाश में सर्प प्रतीत हो रही थी, प्रकाश आते ही भय से मुक्तिदायक बन गई । इसलिये कहा जाता है कि ज्ञान, आनन्द का स्वरूप है क्योंकि ईश्वर ज्ञानमय है और वही शान्ति का स्रोत है । यदि हमारा यह भ्रम नष्ट हो जाय तो यह महान दुःखदायक संसार, शान्ति का समुद्र बन जाये । परन्तु यह हो कैसे ? कैसे हमारा यह भ्रम नष्ट हो, जो अनेक जन्मों से हमारे साथ लगा हुआ है ? हम कैसे उस अद्‌भुत ज्ञान का अवलोकन करें ?

एक बार यही प्रश्न श्री स्वामी शंकराचार्य के भक्तों ने उनके सामने रक्खा कि -- भगवन् ! उस शान्ति के प्राप्त करने

का कोई साधन बताइये, जिसे लोग मुक्ति के नाम से पुकार
हैं अर्थात् संसार के बन्धनों से हम कैसे छूट सकते हैं ?

शंकराचार्य ने उत्तर दिया कि तत्व-ज्ञान के बिना मनु
को शान्ति मिलना महान कठिन है । ज्ञान मिलते ही यह सा
भ्रम ऐसे ही भाग जायेगा जैसे जागने पर स्वप्न का शेर । इ
ज्ञान के प्राप्त करने के चार साधन हैं -- (१) विवेक (
वैराग्य (३) षट्-सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुत्व । इन चारों
साधनों से हमें यथार्थ ज्ञान होता है और यह चारों साथ
साथ चलते हैं । जैसे विवेक होते ही हमें अपने दुख
अनुभव होगा और साथ ही उसे दूर करने का उपाय
सूझेगा। अतः दुख का अनुभव होना और उससे बचने
प्रयत्न करना ही 'मुमुक्षुत्व' है । मुमुक्षु पुरुष ही पक्का जिज्ञा
होता है, जो अपने अन्दर लगे हुए काँटे का दुःख अनु
करता है ।

एक शिष्य ने पूछा, 'मुमुक्षुत्व किमिति' ? उत्तर में क
गया -- 'मोक्षो मे भूयादितीक्षाम्' । मुझे मोक्ष हो, ऐसी इच्छा
होना ही मुमुक्षुत्व है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, इसका
लिखा है कि क्षुधा तथा तृष्णा से पीड़ित पुरुष जैसे अन्न
जल के सिवाय और कुछ नहीं चाहता, उसी प्रकार अश
पुरुष अपनी शान्ति चाहता है । इस प्रकार की उत्कट इच्छा
बचने का साधन तलाश करती है । मनुष्य को एक दिन
अज्ञान का दुःख अवश्य होगा, अशान्ति अवश्य आयेगी
वह शान्ति (मुक्ति) की ओर जायेगा ।

भगवान श्री रामचन्द्र जी को भी इसका अनुभव

और उस महान दुःख से बचने का साधन गुरु वशिष्ठ से पूछने लगे, जिसका वर्णन योग-वशिष्ठ में आया है -- उन्होंने कहा -- 'संसार दुःख पाषाणनीरन्ध्रहृदयोऽप्यहम् । निजलोक भयादेव गलद्बाष्पं न रोदिनी ॥'

संसार के दुःख रूप पाषाण से मेरा अन्तःकरण जर्जर हो गया है । मैं अपने मित्रों और लोक से डर कर अश्रुपूर्ण नेत्रों से नहीं रो रहा हूँ । क्योंकि यदि मैं रोना प्रारम्भ कर दूँ तो वह भी सब रोने लगेंगे । फिर भगवान ने मनुष्य की आयु के विषय में कहा --

आयुः पल्लव कोणाग्र लम्बाम्बुकण भंगुरम् ।
उन्मत्तमिव संत्यज्य पात्यकाण्डे शरीरकम् ॥

(सर्ग १४।१)

जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटक रहे जल-बिन्दु (ओस) के सदृश अस्थिर है । वह उन्मत्त के समान असमय में ही, इस कुत्सित शरीर को छोड़कर चली ज़ाती है । इसी से, हे मुने ! मेरा मन बड़ा दुखी हो रहा है कि इस दुखमय संसार में कैसे शान्ति मिले ?

वह कहते हैं कि इस शरीर में रहती हुई मनोहर भोग-तृष्णा रूपी पिशाचिनी ने कपट से, हमें संसार में पटक कर, हमारा सर्वस्व हरण कर लिया है ।

भगवान राम इस दुःखमय संसार से इतने उपराम हुये के उन्हें कोई भी दुःख इसके सामने सरल ज्ञात होने लगा । ह कहने लगे कि --

कला कालङ्कितो लोको बन्धवो भव बन्धनाम् ।
भोगा भव महा रोगास्तृष्णाश्च मृग तृष्णकाः ॥

(सर्ग २६

सभी संसारी लोग विषयों के अनुसन्धान से ही कलंकि हैं, बन्धु-बान्धव संसार-रूप बन्धन के लिये रज्जु रूप हैं, य सभी भोग संसार रूपी महा रोग हैं, सुख-शान्ति आदि क तृष्णायें मृग-तृष्णा के अनुरूप हैं ।

क्रकचाग्र विनिष्पेयं सोढुं शकनोम्यहमं मुने ।
संसार व्यवहारोत्थ नाऽऽशा विषय वै ॥

यदि कोई मुझे आरे से चीरे तो मैं आरे के दाँतों क रगड़ सहने को तैयार हूँ । परन्तु, सांसारिक व्यवहार से उत्प एवं आशा और विषयों से हुए संघर्ष को, मैं सहने के लि समर्थ नहीं हूँ ।

इसलिये हे मुनि ! वह कौन-सा उपाय है, जिससे संसार रूपी कीचड़ का अनेक बार सम्पर्क होते रहने पर मनुष्य उसमें लिप्त नहीं होता, मुझे वही उपदेश कीजिये

जब ऐसी आतुरता और जिज्ञासा मनुष्य के हृदय में होती है, उसी को मुमुक्षता कहते हैं । भगवान सबके अन्तय हैं । जब हमारा अन्तःकरण यह प्रार्थना करता है तो स्थान पर तुरन्त भगवान प्रगट हो, शान्ति देते हैं । ऐसे उपदेशों को वेद-वाणी कहते हैं । वेद-वाणी किसी एक मनुष्य सम्प्रदाय की नहीं होती, किसी एक देश या लोक की भी

होती, वह तो सम्पूर्ण विश्व के नियन्ता भगवान विश्वम्भर की वाणी है, जो मनुष्य के अन्तःकरण से आती है ।

ऐसा ही आदेश भगवान ने आदि सृष्टि में भी दिया है कि --

युञ्जानः प्रथमः मनस्तत्वाय सविताधियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्यात्म रत् ।।

(युज० ११-१)

अर्थ -- तत्व-ज्ञान के लिये, योगी पहले अपने मन को परमेश्वर में युक्त करे । तब परमेश्वर उसकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है । तब वह साधक परमेश्वर के प्रकाश को अपने में धारण कर लेता है, इसी प्रकार से मनुष्य उस शान्ति को प्राप्त कर सकता है ।

परमात्मा के साथ युक्त हुए बिना, जीव को शान्ति मिलना असम्भव ही है । इसीलिए साधु-पुरुष नित्य-प्रति ईश्वर में एकाकार होने का प्रयत्न करते हैं ।

इसी आधार पर, एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा कि महाराज, जो संस्कृत विद्या से अनभिज्ञ है, उसे भौतिकवाद का ही ज्ञान है, संसार के दुःखों से यदि वह दुःखी हो तो किस प्रकार शान्ति को प्राप्त करे ? इस पर उसके गुरु ने बतलाया कि यह विद्या पुस्तकों के पढ़ने से नहीं आ सकती और न अपने मन और बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है । इस ज्ञान के लिये, किसी सन्त पुरुष से मिलना होगा क्योंकि ऐसे सत्पुरुष ही इस ज्ञान के देने के अधिकारी हैं । उनका संग ही 'सत्संग'

कहलाता है। जैसे इस विद्या के अध्यापक हैं, इसी प्रकार इस विद्या के वह जानकार हैं। ज्ञान पुस्तकों में अवश्य है, परन्तु उनकी कुञ्जी सत्पुरुषों या सद्गुरुओं के ही पास होती है, क्योंकि यह विद्या शरीर और वाणी के परे की है। इसीलिये यह मौन अवस्था में ही दी जाती है। अर्थात् वाणी तो क्या, मन भी मौन हो जाना चाहिये। मन के मौन होते ही जीवात्मा, आत्मा का ज्ञान पाता है और वही उसे शान्ति प्रदान करता है। इसीलिये कहा गया है कि आत्म-ज्ञान पुस्तकों से नहीं, सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है।

OO

कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान

****

☆

इस सृष्टि की रचना प्रकृति और पुरुष के परस्पर संयोग से हुई है । सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु अणु और परमाणुओं से लेकर समुद्र और पर्वतों तक, सभी की रचना में इन्हीं दोनों तत्वों का पसारा है । कहाँ तक कहा जाय जितने भी सूक्ष्म व स्थूल लोक हैं, सब इन्हीं के लीला कार्य हैं । इनमें पुरुष अव्यक्त है । उसको शास्त्र अलख, अगम, अगोचर व अजेय इत्यादि से सम्बोधित करते हैं । उस असीम सत्ता को न कोई देख या सुन सकता है और न जान ही सकता है । इसलिए न तो कोई उसकी आराधना कर सकता है और न उसकी आराधना होती है । सारे पदार्थों को नाम व रूप देकर व्यक्त करने का श्रेय प्रकृति माँ को है । सारे ही कार्य, जिन्हें सोच या समझा जा सकता है, रचना, पालन व संहार के कार्य इसी प्रकृति माँ का कार्य-कलाप है । सबमें उसी की प्रधानता है । धर्म ग्रन्थ इन्हीं महामाया प्रकृति देवी के वैभव का गुणगान करते हुए कहते हैं --

महा विद्या महा माया महामेधा महास्मृतिः ।
महा मोहा च भक्ती महादेवी महासुरी ॥

अर्थ -- सर्वेश्वरी माँ ! तू ही परम विद्या माया, बुद्धि स्मृति मोह है तथा तू ही महादेवी, महासुरी सब कुछ है ।

यदि किञ्चित् कचिदस्तु सदसद् वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तुयसे तदा ॥

अर्थात् -- हे देवी ! सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भी सत व असत् अथवा कारण व कार्य रूप में विद्यमान है, सबकी आत्मा तू ही है । सबमें जो शक्ति है, तू ही है । तुम्हारी प्रशंस किस प्रकार की जा सकती है ?

अतः जो कुछ भी आराधना या भजन-पूजन के कार्य हैं सब इसी माँ के ही हैं । चाहे वह जगत जननी माँ के रूप म हो या जगत्पिता जगदीश्वर के रूप में । आचार्यों ने समय समय पर उसे ही परिस्थिति के अनुसार अनेक नाम व रूपों से विभूषित किया है ।

हमारे शरीर कुण्डिलिनी शक्ति के बीचोबीच मस्तिष्क स लेकर गुदा तक एक ३३ (तेंतीस) गाँठ वाली हड्डी फैली हु है, जिसे मेरुदण्ड (Spinal Chord) कहते हैं । यह धुरी सदृश सारे शरीर के अवयवों की आधार है । इसी में से होती हु शरीर की सारी महत्वपूर्ण नाड़ियाँ गई हैं, जिनमें से एक विश नाड़ी का नाम 'सुषुम्ना' है । यह इतनी सूक्ष्म नाड़ी है कि अत्यन्त सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों द्वारा भी नहीं देखी जा सकती है सुषुम्ना के भीतर वज्र नाड़ी और उसके बीच चित्रा नाड़ी है इस चित्रा नाड़ी के भीतर एक और सूक्ष्म नाड़ी है, जि 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं । इसी ब्रह्म नाड़ी में उस सर्वेश्वरी माँ क शक्ति का बिम्ब पड़ा है और शरीर के सारे अवयवों व नाड़ि

में हरकत व जान आ गई । फलतः शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों (Systems) जैसे पाचन, स्वाँस-प्रस्वाँस तथा रक्त-परिभ्रमण इत्यादि में क्रियाशीलता आ गयी । अर्थात् खाये हुये भोजन से रस, रक्त मज्जा, वीर्य तथा हड्डी इत्यादि बनने लगे। तात्पर्य यह है कि सारा कार्य ही उसी शक्ति से संचालित हो रहा है । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उसी संजीवनी शक्ति के सहारे काम कर रही हैं । उस अद्‌भुत अपार शक्ति वाली प्रकृति माँ की जो शक्ति की धार ब्रह्मनाड़ी में उतरी हुई है, उसी का नाम 'कुण्डलिनी शक्ति' है, जो कि विद्युत-स्वरूपा है तथा नाड़ियों में प्रवाहित होकर, हमें जीवन दान करती है । संयोगवश जैसे एक भयंकर विषधर जब अत्यन्त ठंडक वाले स्थान में पहुँच जाता है, जहाँ बर्फ व ओले गिर रहे हों उस समय ठंटक के मारे शक्तिहीन हो, कुण्डलमार मृतवत हो जाता है, उसी तरह यह विद्युत-शक्ति निरन्तर विषयों के तुषारापात से आहत हो, शरीर के सबसे निचले स्थान (गुदा-चक्र) में शिथिलता पाकर बंध गई व स्थिर हो गई । अतः महामाया प्रकृति माँ की शक्ति के इसी रूप का नाम 'कुण्डलिनी शक्ति' हुआ । सन्तों की भाषा में, इसे सुरति की धार एवं प्राण-शक्ति भी कहा जाता है । अध्यात्म विद्या में इनका बड़ा महत्त्व है । योगीजन इसी सुषुप्त अवस्था में पड़ी हुई शक्ति को जाग्रत कर लेते हैं । फिर उसका उत्थान करते हुए, षट-चक्रों को बेधते हुए, उसे ऊपर ले जाकर सहस्त्रार में लय कर देते हैं तथा परम आनन्द प्राप्त करते हैं ।

चक्र

यह विद्युत-वाहिनी शक्ति की नाड़ियाँ, जाल की तरह

समस्त भागों में फैली हुयी हैं । शरीर में कोई स्थान इनसे खाली नहीं है । इन्हीं के द्वारा प्राण-शक्ति प्रवाहित होकर अपना काम करती है । जहाँ पर दो या दो से अधिक विद्युत वाहिनी नाड़ियाँ एक दूसरी से मेल (Cross) करती हुई आगे बढ़ती हैं, उसी स्थानों पर केन्द्र (Crntre) बन गए हैं । इन्हीं केन्द्रों को 'चक्र' कहते हैं । इस तरह के शरीर में अनेक चक्र हैं, जिनमें सुषुम्ना नाड़ी के छः मुख्य चक्र हैं । यह सब कुण्डलिनी के ही मण्डल हैं । प्रत्येक चक्र का अपना-अपना अलग-अलग महत्व है ।

षट्-चक्र वर्णन

सर्व प्रथम नीचे 'मूलाधार चक्र' पड़ता है । मूल स्थान पर होने के कारण, इसे आधार चक्र या गुदा के समीप होने के कारण इसे 'गुदा-चक्र' भी कहते हैं । यह स्थान गुदा से दो अंगुल ऊपर की ओर रीढ़ की हड्डियों की प्रथम गाँठ पर है । यह कमल के फूल के समान है । इसमें चार पंखुरियाँ हैं, जिन्हें दल भी कहते हैं । इनमें चार प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान हैं, जिनसे चार प्रकार के शब्द निकलते हैं । इनका नाम व, श, ष और स हैं । यहाँ के अधिष्ठाता 'गणेश' देवता हैं, जो प्रथम देव माने जाते हैं । यहाँ पर पृथ्वी-तत्त्व प्रधान है, इसलिये इसका नाम 'भूलोक' है । अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल आदि सप्तलोक, इसके नीचे और भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत् आदि लोक इसके ऊपर पड़ते हैं । यह स्थान (आधार चक्र) स्वर्ग लोक व पाताल लोक के बीच में स्थित है । जब इसे योगी बेध कर, अपने वश में कर लेता है, तब वह पृथ्वी तत्त्व का मालिक हो जाता है । वह पृथ्वी से ऊपर उठ सकता है ।

दूसरा चक्र मूलाधार चक्र के ऊपर लिंग के स्थान पर 'स्वाधिष्ठान-चक्र' है । यहाँ पर कमल के छः दल हैं, जिससे छः प्रकार की शक्तियाँ संचालित होती हैं तथा छः तरह के शब्द निकलते हैं । यह व, न, म, य, र और ल हैं । यहाँ के अधिष्ठाता देवता 'ब्रह्मा' हैं । यहाँ पर जल-तत्व प्रधान है । इस स्थान पर विजय प्राप्त करने पर योगियों का जल-तत्व पर अधिकार हो जाता है । वह जल से अभय हो जाता है । काम और क्रोध पर विजय हो जाती है । उसकी इच्छा की मृत्यु हो जाती है । यह 'भुवः' लोक है ।

तीसरा चक्र नाभिके स्थान पर 'मणिपूर' चक्र है । यहाँ पर दस दल होने के कारण इस स्थान को दस-दस कमल कहते हैं, जिनसे दस प्रकार की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं । इन दस दल कमलों से दस प्रकार के शब्द निकलते हैं । य, ड, ढ, ण तथा द, ध, न, प और फ हैं । यहाँ के अधिष्ठाता देवता विष्णु हैं । यहाँ अग्नि तत्व की प्रधानता रहती है । इस चक्र को शोध कर अधिकार कर लेने पर अग्नि का भय जाता रहता है। वह प्रज्वलित अग्नि में भी नहीं जल सकता तथा उसे पाताल-सिद्धि प्राप्त हो जाती है । वह पृथ्वी के गर्भ में पड़े हुये पदार्थों को दृष्टि गड़ा के देख सकता है । यही स्वर्ग-लोक है ।

चौथा चक्र हृदय के स्थान पर अनाहत चक्र है । यहाँ कमल के बारह दल हैं । इसलिये इस स्थान को द्वादश दल कमल कहते हैं । इनसे बारह प्रकार की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं तथा बारह शब्द निकलते हैं । ये शब्द क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ठ हैं । यहाँ वायु तत्व की प्रधान रहती है । इस स्थान पर पहुँच कर योगी वायु तत्व पर अधिकार कर

लेता है । वह कई सिद्धियों का स्वामी बन जाता है । हवा में उड़ना, दूसरों के शरीर में प्रविष्ट हो जाना इत्यादि पूरी क्षमता उसमें आ जाती है । कल्प-वृक्ष का यही स्थान है । यहाँ मन चाहा फल मिलता है । यही महः लोक है ।

पाँचवा चक्र कण्ठ के स्थान पर विशुद्ध चक्र है । यह षोड्सदल-कमल कहलाता है, जिसमें सोलह दल हैं । यहाँ सोलह शक्तियाँ संचारित होती हैं तथा सोलह शब्द निकलते हैं । ये शब्द अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ, औ, अं, अः, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ हैं । इस स्थान पर आकाश तत्व प्रधान है तथा यहाँ की अधिष्ठात्री आद्यशक्ति है, यहाँ पहुँच कर योगी आकाश तत्व पर अधिकार प्राप्त कर लेता है । योगी यहाँ पहुँच कर चारों ओर के शब्द परा, पश्यन्ति, वैखरी और मध्यमा का ज्ञाता हो जाता है, यह जनःलोक है ।

छठा चक्र दोनों भौहों के बीच आता है, इसे भृकुटी भी कहते हैं । यहाँ कमल के दो दल हैं, इसी से इसे द्विदल कहते हैं । इससे दो प्रकार की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं । नाद और बिन्दु इसी चक्र में हैं । यहाँ के अधिष्ठाता देवता 'परम शिव' हैं । यहाँ पहुँचकर योगी जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त कर जाता है । वह सब पापों से मुक्त होकर जीवन-मरण के बन्धन से छूट जाता है । सभी सिद्धियाँ अधिकार में आ जाती हैं क्योंकि मन का यही वास्तविक स्थान है । इसे तपः लोक कहते हैं ।

सहस्त्रार

शरीर की चोटी पर सहस्त्रार का स्थान है । यहाँ कमल

के सहस्रदल हैं, इसलिये इसे 'सहस्रदल कँवल' भी कहते हैं । इसमें से हजारों शक्तियाँ फूटकर प्रवाहित होती हैं । सभी चक्रों का यह राजा है अर्थात् पूर्ण शक्ति का स्थान है, यहाँ के अधिष्ठाता सर्व शक्तिमान महादेव हैं । यहा माया की अंतिम मंजिल है । यहाँ परमानन्द को प्राप्त करता हुआ, योगी त्रिकालदर्शी हो जाता है । सभी लोक-लोकान्तरों का उसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है । यही सत्‌लोक है ।

मनुष्य जीवन की सफलता यहाँ तक पहुँचने में है । यहीं पर दर्शन होता है तथा जीव अमर-पद प्राप्त करता है । इस आनन्द-धाम तक पहुँचने का प्रयत्न करना, हम सभी का कर्त्तव्य है । अपनी कुण्डलिनी शक्ति को, जो मूलाधार चक्र में निर्बल हो, सुषुप्त अवस्था में पड़ी हुई है, उसे जाग्रत कर लेना है । फिर उसे उत्थान करते हुए सहस्रार तक लाना है । इसी में जीवन की सफलता है ।

उत्थान

आजकल जन-साधारण भौतिकता के दल-दल में इस प्रकार फँसा हुआ है कि उसे कुण्डलिनी का उत्थान, ईश्वर का साक्षात्कार तथा परम पद प्राप्ति आदि विषयों का ज्ञान ही नहीं। अगर कुछ अवस्था विशेष की वजह से कुछ पता चलता भी है तो इस कठिन चढ़ाई में वे अपने को असमर्थ पाते हैं और इस पथ से हट जाते हैं । ऐसे सामर्थ्यहीन विवेक शून्य मनुष्यों के लिये मूलाधार चक्र से सहस्रार तक कुण्डलिनी का उत्थान करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है । प्राचीनकाल की परिस्थितियाँ कुछ और थीं, आज की कुछ और ही हैं । उस युग के लोगों में पर्याप्त बल व पुरुषार्थ था, सुविधायें भी हर प्रकार

की थीं, जिनसे वे अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुये, प्राणायाम आदि अन्य कठिन से कठिन क्रियाओं द्वारा ऊर्ध्वगमन करते हुए, इनमें सफलता प्राप्त कर सकते थे । आज के मनुष्य में न तो वह पराक्रम है, न किसी प्रकार की सुविधा ही है । सांसारिक उलझनों से उसका जीवन इतना लदा हुआ है कि उनसे ही छुट्टी नहीं । मानव-जीवन रूपी अमूल्य-निधि को निरर्थक नष्ट होते देख, सन्त-महापुरुषों के हृदय में दया आई । उन्होंने वर्तमान युग की अवस्था और परिस्थिति को देखकर कुछ ऐसे सरल तरीकों को ईजाद किया, जो सबके लिए सुगम और सुलभ हो । श्री गुरुदेव ने कुछ ऐसी ही सरल क्रियाओं का आविष्कार अपनी निजी अनुसंधान (Research) के बल पर किया है, जिन्हें प्रत्येक मनुष्य आसानी से कर सकता है । इस साधन-शैली में श्री गुरु अपने आत्मिक बल से साधक को सभी अध्यात्मिक मंजिलों (Spiritual Goals) का दर्शन कराते हैं। साधक की सुषुप्त कुण्डलिनी को अपने विशेष बल से उत्थान करते हुए सहस्त्रार में पहुँचा देते हैं, जैसा कि उन्हीं महापुरुष की लेखनी से प्रकट है ।

हमारे यहाँ की शैली में गुरु अपने आत्म-बल से शिष्य की प्राण-शक्ति को संचालित कर देता है । उसकी कुण्डलिनी का द्वार खोल सुषुम्ना में प्रवाहित कर सहस्त्रार तक पहुँचा देता है, उस पर अधिकार करा देता है । इसमें न ध्यान है, न रेचक, पूरक की क्रिया बल्कि केवल गुरु का सहारा है ।

OO

स्वाध्याय और सत्संग

****

☆

परमार्थ के जिज्ञासु के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है -- एक स्वाध्याय और दूसरा -- सत्संग । स्वाध्याय का अर्थ है -- वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदि ऐसे धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन, जिनके पढ़ने से मन में ईश्वर की प्राप्ति की लालसा जाग्रत हो । सांसारिक विद्या से परे भी दूसरा कोई ज्ञान है, जिसे प्राप्त कर, मनुष्य शाश्वत शान्ति और सुख पा लेता है, इस प्रकार का विचार स्वाध्यायी मनुष्य के अन्दर पैदा होना चाहिए । यदि शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी, वह संसारी ही बना रहा, उसकी अनुभूति प्राप्त नहीं की तो पण्डित और मूर्ख में भेद ही क्या हुआ ? कहा भी है -- "अनभ्यासे विषं शास्त्रं" जो ज्ञान अभ्यास में नहीं आता, वह विष हो जाता है तथा 'यः क्रियावान् स पण्डितः', जो कर्मशील व्यक्ति है, वही पण्डित माना जाता है । संसारी आदमी तो इतना ही समझकर रह जाता है कि 'जिन्दगी जामे ऐश', (विलास मदिरा का प्याला) है, बस पिए जाओ, पर पढ़ा-लिखा आदमी एक कदम आगे सोचता है, वह कहता है --

'जिन्दगी जामे ऐश है लेकिन, फायदा क्या अगर मुदाम नहीं ।'

यदि संसार के सुखों में स्थायित्व ही नहीं है तो उस क्षण-भर सुख देने वाले प्याले को पीने से क्या लाभ है इसलिए ऐसी वस्तु की खोज करनी चाहिए, वह अमृत ढूँढ़ना चाहिए, जो हर घड़ी आनन्दित रखता है । ऋषियों ने इस अमृत को खोज निकाला था और यह ऐलान कर दिया था –

"श्रणवन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः"

परन्तु आज के जमाने में श्री गुरुदेव ने देखा कि लो अध्यात्म की बातें तो बहुत करते हैं । शास्त्रीय ज्ञान रख वाले यह तो कहते हैं कि 'आत्म ज्ञानं परं ज्ञानम्' तथा 'ब्रह्म विद्या सर्व विद्या प्रतिष्ठाम्' पर ब्रह्म विद्या क्या है ? इसका श्री गणेश कहाँ से होता है, अनुभव क्या कहता है, यह कुछ न जानते । दिन-रात कर्मों में अटके रहते हैं और उसी को स कुछ समझ जिन्दगी बिता डालते हैं । उनके दिल में विद्वा तथा पण्डितों के लिए बड़ा आदर और प्रेम का भाव था । कहा करते थे कि एक हिस्सा तो इन्होंने कर ही लिया, दूस भाग और पूरा कर लें तो सोने में सुहागा हो जाए । वह क करते ते कि शास्त्रों में जिस चीज का वर्णन है, वह दूसरों अनुभव की हुई है । तुम स्वयं उसे देखो और तब अ अनुभव तथा शास्त्रीय-ज्ञान को मिला कर देखो कि कहाँ एक बैठता है । जब तक अनुभव की आँखें न खुलें वह तत्व समझ में नहीं आयेगा । इसके लिए सत्संग आवश्यकता है ।

सत्संग भी दो प्रकार का होता है । एक बाह्य

दूसरा आन्तरिक । बाह्य सत्संग में बातचीत रहती है । चार आदमी बैठकर किसी ग्रन्थ को पढ़ें या उस पर आपस में वार्तालाप करें तो वह बाह्य सत्संग कहा जायेगा । इससे भी लाभ होता है, पर असल में यह सत्संग नहीं है । सत्संग, उस सत्पुरुष के साथ बैठने को कहते हैं, जिसने अपने आपको उस परम सत्ता में मिला कर एक कर रक्खा है । जिसने उस भण्डार से शान्ति और आनन्द की धारें खींच कर, अपने अन्दर भर ली हैं तथा जिसके अन्दर यह शक्ति भी मौजूद है कि अपने पास बैठने वालों को भी जब चाहे, उस भण्डार से सम्बन्धित कर आनन्दित कर दे । ऐसा पुरुष भगवान का ही रूप होता है । उसके अन्दर यह सामर्थ्य होती है कि जब चाहे भगवान के पट खोल दे और दर्शन करा दे । वह असल में मन्दिर के पुजारी की तरह होता है, जो समय बे-समय, उस मुखड़े का दर्शन करा सकता है । ऐसे महापुरुष की सुहबत में बैठकर अपने मन व चित्त को उसमें लगा कर, उस आनन्द के भण्डार से सम्बन्ध करना 'सत्संग' कहलाता है । इसी को 'आन्तरिक सत्संग' कहते हैं ।

शास्त्रों में आया है कि विज्ञानमय कोश में पहुँचने पर अनुभव आते हैं । यह पर्दा तब तक नहीं खुलता जब तक कि गुरु अपनी शक्ति से विवेक शक्ति को ठोकर लगा कर जाग्रत नहीं करता । रामायण में आया है -- 'बिनु सत्संग विवेक न होई' इसका अर्थ वास्तव में यही है । इसीलिए सत्संग की महिमा महापुरुषों ने गाई है, और इसी प्रकार का सत्संग क्षण भर में सब कुछ कर देता है ।

गाथा

भागवत में अजामिल की कथा आई है । कहते हैं कि वह बड़ा पापी और दुराचारी था । जीवन में कभी भी उसने भगवान का स्मरण नहीं किया । उसका एक छोटा लड़का था, जिसका नाम नारायण था । अन्त समय तो सभी का आता है । काल बली से तो कोई नहीं बच पाया है । चाहे दुनिया का वैभव चरणों में लोट रहा हो, पर जब समय की साँस पूरी हो जाती है तो एक ठोकर में जीव औंधे मुँह गिर पड़ता है । उस समय उसकी कोई शक्ति काम नहीं आती । स्वजन सनेही सब खड़े के खड़े रह जाते हैं और बेचारा जीव सारी कमाई छोड़ विवश चल देता है । मृत्यु के समय, मनुष्य के सामने, वह सारे दृश्य घूमते हैं, जो जीवन में उसने देखे -- किये थे और जो वस्तु अधिक प्रिय होती है, जिसमें उसका विशेष ममत्व होता है, वह उसके सामने आ खड़ी होती है । अजामिल का मोह नारायण में था । सबसे छोटी सन्तान माता-पिता को प्यारी होती ही है । बस, उसी को आवाज दी । वह कहीं बाहर खेल रहा था, इधर उसके प्राण छटपटा रहे थे कि किसी प्रकार नारायण को देखूँ ।

यमराज के दूत इसके गले में फन्दा लगा चुके थे और अजामिल के प्राण-पखेरू उड़ने ही वाले थे कि दयाम्य भगवान के भंडार में क्षोभ उत्पन्न हुआ । वह संसारी जीव तू कैसा बँधा है ? यह जानते हुए कि अब यहाँ से चल देना है, कोई वस्तु मेरे काम न आएगी, तू फिर भी मोह-जाल से छूटने का प्रयत्न नहीं करता । परन्तु हो भी क्या ? माया तो प्रबल है । मेरे दास और भक्तों को ही केवल यह छोड़ती है, शेष तो सभी

उसके वेग में बह जाते हैं । उस बेवस जीव पर, उन्हें दया आ गई । अपने भक्त पार्षदों को बुलाकर उन्होंने कहा -- पार्षदों ! अजामिल का मन, अब भी संसार से वैराग्य नहीं लेता । जीवन भर पाप कमाने पर फिर भी पेट नहीं भरा । उसका मन अधोमुखी हो रहा है । तुम जाओ और उसे दर्शन दो ताकि तुम्हारे दर्शन पाकर वह वैराग्य को प्राप्त हो ।

भक्तों को क्या था ? आज्ञा हुई और वे पहुँच गए । अजामिल के नेत्र बन्द थे । नारायण का स्मरण कर रहा था, यमदूत फाँसी लगाये थे कि भगवान के पार्षद पहुँचे । उनके देखते ही, यमदूत तो भागे और अजामिल का मन उन दिव्य मूर्तियों को देख प्रसन्न हो उठा । उसने मन ही मन पूछा -- प्रभो ! आप कौन हैं और मुझ पापी के पास क्यों पधारे हैं ? पार्षदों ने कहा -- तेरे कल्याण के लिये ही, हम भगवान की ओर से भेजे गए हैं । अजामिल ने देखा कि उनके क्षण-मात्र के दर्शन से, उसका मन संसार से एकदम खिंचकर भगवान के चरणों जा लगा है । उसे मन ही मन पश्चाताप होने लगा और उसका हृदय ग्लानि से भर आया । सच्चा पश्चाताप हृदय को निर्मल बना डालता है । उसका हृदय अब शुद्ध हो चुका था । संसार की कोई वासना, उसे नहीं सता रही थी । सन्तों के दर्शन पा, वह कृत-कृत्य हो गया था । अन्त समय, ऐसी स्थिति हो जाए, तो बेड़ा पार ही है । बस अजामिल भव-बन्धन से छूट सीधा भगवान के लोक को चला गया । भागवत् में आया है --

इति जात सुनिर्वेदः क्षण संगेन साधुषु ।
गंगाद्वार मुपेयाय मुक्त सर्वानुबन्धनः ॥

श्री शुकदेव जी राझा परीक्षित से कह रहे हैं कि भगवान के उन पार्षद महात्माओं का केवल थोड़ी ही देर के लिए सत्संग हुआ था । इतने से ही, अजामिल के चित्त में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य हो गया और वह सबके सम्बन्ध और मोह को छोड़कर हरद्वार (भगवान के धाम) को चला गया ।

श्री गुरुदेव के सत्संग की धारा, वही पतित पावनी गंगा है जिसमें डूबकी लगाने से मन का मैल कट जाता है और मनुष्य निर्मल और आनन्दित बन जाता है । अब भी वह धारा बह रही है, इसी को 'आन्तरिक सत्संग' कहते हैं । बिना इसके दर्शन नहीं होता । जीवन का लाभ भगवान के दर्शन बिना नहीं मिलता । यह केवल स्वाध्याय से पूरा नहीं होता, इसके लिए सत्संग की जरूरत है ।

OO

प्रश्न लक्ष्मण जी के --
उत्तर भगवान राम के

****

☆

हर कार्य के सफलता पूर्वक सम्पादन के लिये कुछ विशिष्ठ नियम होते हैं । अध्यात्म-मार्ग में भी जहाँ ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति आदि का वास्तविक स्वरूप, जिज्ञासु पर, गुरु द्वारा प्रकट होता है, उसके भी कुछ अपने नियम हैं । प्रथम तो यह कि जिज्ञासु को प्रश्न उसी समय करना चाहिये, जब बताने वाला (गुरु) प्रसन्न मुद्रा में भाव पूर्ण हो क्योंकि बिना भाव के वह बतायेगा ही क्या और यदि प्रसन्न नहीं है तो जानते हुये भी बताने की कृपा क्यों करेगा ? दूसरे जिज्ञासु को भी मन, बुद्धि और चित्त को स्थिर करके गुरु-वाणी को सुनना एवं समझना चाहिए । रामायण के एक प्रसंग में, इन नियमों की मर्यादा का बहुत सुन्दर निर्वाह किया गया है । गोसाईं जी के शब्दों में वह प्रसंग यह है --

एक बार प्रभु सुख आसीना ।
लछिमन वचन कहे छल हीना ।।

सुरनर मुनि सचराचर साईं ।
मैं पूछऊँ निज प्रभु की नाईं ।।

मोहि समुझाई कहहु सोई देवा ।
सब तजि करों चरण रज सेवा ।।

कहहु ग्यान बिराग अरु माया ।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया ।।

दोहा -- ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहा समुझाइ ।
जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ।।

थोरेहि महँ सब कहऊँ बुझाई ।
सुनहु तात मन मति चित लाई ।।

यह प्रश्न बड़े गूढ़ हैं । इनके विषय में बड़े-बड़े योगियों, विद्वानों और ज्ञानियों को भी भ्रम रहता है । अतः उचित अवसर पर, लक्ष्मण जी ने स्वयं भगवान राम के ही मुख से, इनका स्पष्टीकरण माँगा । भगवान राम ने लक्ष्मण की विनय स्वीकार की ।

ज्ञान, वैराग्य और माया में से, पहले वे माया का स्वरूप समझाते हैं, कारण कि लोग माया में ही फँसे हुए हैं, उसको समझे बगैर, किसी और विषय को समझना कठिन है । कहा है -- 'भूमौ पतित पादानां भूमि खे परं बलम्' अर्थात् जो जमीन पर गिरा है, वह उसी को टेक कर उठेगा । इसी तरह सब लोग माया में पड़े हैं, इसलिए प्रथम माया को ही समझाना उचित समझा । भगवान कहते हैं -- मैं और मेरा यही माया है । (मैं अरु मोर तोर ते माया । जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया ।।) अर्थात् अहम् भाव 'मैं' ही सब अनर्थों की ज

है। उसी से 'मेरा' बन जाता है । वास्तव में माया का अस्तित्व नहीं है । 'मैं -- मेरे' का भाव आते ही माया भासने लगती है ।

आगे माया का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, वह कहते हैं -- गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ।। अर्थात् जहाँ तक इन्द्रियों और मन की पहुँच है, वह सब माया है । दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों या मन के द्वारा, जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह ज्ञान नहीं अविद्या है । आगे इस माया के, दो भेद बतलाए -- एक को अपरा विद्या और दूसरी को अविद्या कहा । इन दोनों का अलग-अलग काम बताते हैं --

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।
एक रचै जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ।।

अर्थात् -- एक तो अविद्या है, जिसके कारण जीव इस संसार कूप में पड़ा हुआ है । दूसरी, वह अपरा विद्या है, जिसके वश में संसार के नियामक तीनों गुण भी हैं । इस अपरा विद्या के अन्तर्गत चारों वेद, कल्प-व्याकरण-निरुक्त ज्योतिष आदि आते हैं । अर्थात् इनका ज्ञान भी ज्ञान नहीं है । ऐसी अपरा विद्या अर्थात् माया संसार की रचना जैसे महान् कार्य को करती है, परन्तु उसमें अपना कोई बल नहीं है । यह सब प्रभु की प्रेरणा से होता है । यह त्रिगुणात्मक जगत गुणों से रचा जाने पर भी गुणों के आधीन नहीं है -- बल्कि भगवान की इच्छा के आधीन है ।

अब, आगे वह ज्ञान को समझाते हैं । ऊपर के प्रसंग से वह समझ में आ जाता है कि चारों वेदों आदि का ज्ञान-ज्ञान नहीं है । भगवान कहते हैं कि जहाँ अपना आपा न हो

और साधक समस्त सृष्टि में एक ही ब्रह्म अर्थात् एक महाशक्ति को देखे -- वह स्थिति है -- 'ज्ञान' । इसका ता यह हुआ कि समस्त सृष्टि में एक शक्ति का दर्शन करना कहलाता है । (ज्ञान मान जेहि एको नाहीं । देखे ब्रह्म स सब मांही ।)

आगे वैराग्य की परिभाषा करते हुए भगवान बतात कि वैरागी वह है, जो तीनों गुणों की सिद्धियों को तृण समान त्याग दे । तमोगुण पर अधिकार प्राप्त हो जाने तमोगुणी शक्ति का विकास और तमोगुणी सिद्धियाँ प्राप्त हैं । इसी प्रकार रजोगुण और सतोगुण पर अधिकार होने रजोगुण व सतोगुण शक्तियों का उभार होकर वैसी ही सि साधक को प्राप्त होती हैं । परन्तु वैराग्य यह है कि इ तरफ आँख उठाकर भी न देखे । जो जीव इस माया को, को और ईश्वर को नहीं जानता, वही जीव की संज्ञा में है । इस प्रकार थोड़े से शब्दों में, उन्होंने भक्ति और उ स्वरूप हमारे सामने रक्खा ।

जीवन को सुखी बनाने का साधन

****

☆

प्राणी स्वभाव से ही दुःखों के प्रति वैराग्य और आनन्द के प्रति प्रेम-भाव रखता है । संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो यह चाहता हो कि उसे दुःख की प्राप्ति हो । सुख के लिये ही, उसने विज्ञान की उन्नति की, शिक्षा का प्रचार किया, रहन-सहन की सुविधा और मनोरंजन के इतने अपरिमित साधन बनाये फिर भी, हमारा जीवन सुखमय नहीं है, हमारा मन प्रसन्न नहीं है, दुःखों ने हमारा पिण्ड नहीं छोड़ा है । ऐसा क्यों है ?

वास्तव में, सुख-दुःख मन का विषय है । मनचाही वस्तुओं के ऊपर, आपका अधिकार होने से सुख होता है । यदि वे अपने वश में नहीं हैं तो दुःख होता है । दुःख से छुटकारा पाने के लिये, हम उसे पाने का प्रयत्न करते हैं । यदि प्राप्त करने में समर्थ होते हैं तो हमें सफलता जन्य सुख होता

है । अन्यथा असफलता जन्य निराशा एवं असन्तोष । उ हुए जीवन स्तर के साथ-साथ, हमारी इच्छायें यहाँ तक ब जा रही हैं कि उनकी पूर्ति की सामग्री जुटाने में, हम अस हो रहे हैं । मान-सम्मान, धन, दौलत, रूप-यौवन के रहते भी कामनाओं का दास बन, हम प्रायः असन्तुष्ट ही रहते है फिर असन्तोषी को सुख कहाँ ? उसे तो वियोगिनी की भाँ सावन का सुन्दर दृश्य, बसन्त की निराली छटा, शरद शीतल चाँदनी, जलाये उठती है । अतः हम इस निष्कर्ष पहुँचते हैं कि वास्तविक सुख, कामनाओं की कमी एवं इन्द्रि संयम में ही निहित है ।

कामनाओं का होना मनुष्य में स्वाभाविक गुण है । उनकी पूर्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है । इस वैज्ञा युग में, कामनाओं की पूर्ति अर्थात् भौतिक सुख की जन अर्थ-व्यवस्था की वैज्ञानिक प्रणाली पर आधारित न होने कारण, हमारी अत्यावश्यक इच्छाएँ भी पूरी नहीं हो रही है फलस्वरूप, हम में असन्तोष की लहर फैल गई है । अशान्त और अधीर हो उठे हैं । इस उतावलेपन से हम कष्ट और बढ़ गया है । अतः आवश्यकता इस बात की है हम संतोषपूर्वक कर्मशील एवं दूरदर्शी व्यक्ति की तरह उन परिस्थितियों को बदल दें, जो हमारे जीवन में असफलत और असन्तोष की सृष्टि करती हैं ।

कमी और असन्तोष से हम आज प्रबल मनोविकारों शिकार बन रहे हैं । नाना प्रकार की चिन्ताओं ने हमें रक्खा है । चिन्ता से हमारा मस्तिष्क सदैव उत्तेजित, परेशान एवं इन्द्रियाँ शिथिल रहती हैं । हम हर समय अ

ही में डूबे रहते हैं। कोई काम करने का दिल नहीं करता। परिणाम यह होता है कि निट्ठली चिन्ता के नाम पर, जीवन सुख को न्योछावर कर देते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने को योग्य बनावें। जीवन को सफल और सुखी बनाने के लिये सदैव काम में व्यस्त रहें। काम का परिवर्तन ही वास्तविक आराम है। प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ मनोरंजन अवश्य होता है। उनमें लीन होकर हम चिन्ता से छुटकारा पा स्वस्थ एवं सुखी रहें।

चिन्ता से ग्रसित व्यक्ति को अपना अभाव तथा दूसरों की समृद्धि ही केवल दिखाई देती है। वह अपनी अयोग्यता को न देखकर, दूसरों की सफलता की आलोचना करता रहता है। वह दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न नहीं होता बल्कि ईर्ष्या के कारण जला करता है। इस प्रकार उसे केवल अपने अभाव का ही दुःख नहीं होता बल्कि दूसरे लोगों का आनन्द से रहना भी, उसके लिये दुःख का विषय बन जाता है। अतः चाहिये कि अपने को सुखी एवं समृद्ध बनाने का भरसक प्रयत्न करें, साथ ही दूसरों के उत्कर्ष पर प्रसन्नता प्रगट करें।

ईर्ष्यालु व्यक्ति की किसी से नहीं निभती। वह असहिष्णुता एवं दम्भ से भरा रहता है। वह अपनी गलत बात को सही और दूसरों की सही बात को गलत करने की चेष्टा करता है। ऐसे लोगों का कोई स्थाई मित्र नहीं होता। असहिष्णुता का बीज पनपते-पनपते, जब हिंसा का रूप धारण कर लेता है तब उसमें झगड़ा-फसाद, हत्या, लूट-फूट, युद्ध आदि के कड़वे फल लगते हैं, जो उसके साथ-साथ और लोगों के भी सुख-शान्ति का

अन्त कर देते हैं । अतः आवश्यकता इस बात की है कि ह अपने विचारों को उन्नत बनायें, सही बात का समर्थन क और दूसरों की भावनाओं का आदर करें । भगवान ने प्रत्ये प्राणी में कुछ न कुछ प्रशंसनीय खूबियाँ दी हैं, उन्हें समझ उनकी प्रशंसा करें और उन्हें प्रोत्साहन दे । ऐसा करने स्वयं भी प्रसन्न रहेंगे और दूसरों को भी सुखी बनाने सहायक होंगे ।

मनुष्य समाजबद्ध प्राणी है । वह दूसरों के सुख-दुःख काम आता है । परन्तु, अपने किसी मित्र की विपत्ति का करु चित्रण करके तथा उससे सहानुभूति दिखा कर, कोई मनु उसका उतना भला नहीं करता, जितना कि वह मनुष्य, जो उन्हें दुःख भूलने या उपस्थित परिस्थिति में कोई हल ढूँढने सहयोग देकर करता है । आगे बढ़ते हुए व्यक्ति के लिये, ए उत्साह वर्द्धक वाक्य और दिलासा, आश्चर्यजनक कार्य कर हैं । अतः हमें दूसरों के दुःख में दिलासा देना चाहिये । दुः सुख सबके साथ है । अतः दूसरों का दुःख दूर करने का प्रय करना अच्छा है परन्तु दूसरों का दुःख दूर करने का विष अर्थात् सुधार का, सिर-दर्द का साधन बना लेना अच्छा न है । अपने ऊपर कोई भी मुसीबत आने पर, उसे झेलने लिये सदैव तैयार रहना चाहिये । जिस स्थिति में हम पैदा हैं, जो भी सुविधायें हमें प्राप्त हैं, अपनी योग्यतानुसार धीरत सहिष्णुता और प्रसन्नता से अपना कर्त्तव्य करते जाना चाहिये सुखी बनने और सर्वत्र सुख की आभा फैलाने का यही त मन्त्र है ।

यहाँ तक रही भौतिक सुख की बात, परन्तु जब मन

झुकाव अपने स्वभाव राज्य अर्थात् भौतिक प्रपंचों से हटकर अध्यात्म की ओर बढ़ता है तब हम चाहते हैं -- मोक्ष अर्थात् परमानन्द पद, जहाँ दुःख आदि के लिए कोई स्थान नहीं है । मोक्ष, जीवन को प्रकृति के अनुकूल ईश्वरीय आदेशों पर ढाल, सद्-कर्त्तव्यों द्वारा आत्मा में ईश्वरीय गुणों को विकसित कर, परमेश्वर द्वारा अपनाये बिना सम्भव नहीं । ऐसा सबके लिये कठिन ही नहीं, असम्भव भी है । पर कर्त्तव्य-विमूढ़ और दुखी होना उचित नहीं । अतः सर्व साधारण को मोक्ष-पथ में अग्रसर होने के लिये, अपने को ईश्वरार्पण कर देना अर्थात् ईश्वर में अटल भक्ति रखना ही श्रेयस्कर है । इससे वह अपार दुःख-सागर को सुगमता से पार कर सकेगा । उसे अपरिमित आनन्द मिलेगा ।

मन की सफाई के उपाय

****

हमारा एक यह दृश्य शरीर है और दूसरा अदृश्य म
में आत्मा है । यह शरीर प्रकृति तत्व से बना है, इसलिए स्थू
और जड़ है । आत्मा सूक्ष्म और चेतन है, जिसकी वजह
यह शरीर चलता है, इन्द्रियाँ काम करती हैं, वह आत्मा
है । शरीर और आत्मा के बीच एक शक्ति का केन्द्र है -- मन
यह मन ही आत्मा से शक्ति प्राप्त कर शरीर को प्रदान कर
है ।

परमात्मा की ज्योति (आत्मा) प्रथम मस्तिष्क में, च
के पास ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है । फिर वह उतर क
बुद्धि-तत्व या मह-तत्व और मनस्तत्व होते हुए ज्ञानेन्द्रियों
कर्मेन्द्रियों में प्रवाहित होकर, बाह्य कार्य सम्पादित करती है
अपने निज स्थान से नीचे की तरफ प्रवाहित होते समय, जि
स्थानों पर ठहरती है, वहाँ एक मण्डल बन जाता है, जि

शास्त्रों की भाषा में 'कोश' कहा गया है । यह पाँच मण्डल या कोश बनाती है -- प्रथम आनन्दमय, फिर विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और सबसे नीचे अन्नमय । यही पंचकोश, आत्मा के ऊपर पाँच आवरण या पंच शरीर कहे जाते हैं । आत्मा तक या अपने निज स्थान तक़ पहुँचने के लिये, इन पाँच चढ़ाइयों को पूरा करना पड़ता है । जिन पर्दों के भीतर आत्मा की शक्ति और प्रकाश बन्द है उसे हटाना होता है तभी उस अविनाशी आनन्द घन का साक्षात्कार हो सकता है ।

जिन क्रियाओं के द्वारा इन आवरणों को हटाया जाता या चढ़ाई की पाँच मंजिलों को पार किया जाता है, वह सब साधना ही है । प्रथम कर्म-काण्ड और हठयोग की क्रिया से, नीचे के अन्नमय और प्राणमय (स्थूल शरीर) को पार करके मनोमय में पहुँचा जाता है । फिर मन को साधंने के लिये उपासना की साधना करनी पड़ती है । उपासना करते-करते, जब मन नियंत्रित और निश्छल हो जाता है तो मन स`ज्ञान-तत्व की ओर जाना पड़ता है । विज्ञानमय में पहुँचकर ही, सच्चा ज्ञान होता है और जीव, उस निर्मल ज्ञान से 'शिव' का दर्शन कर निहाल हो जाता है । रामाश्रम सत्संग की साधना 'उपासना' है, जो मनोमय कोश से शुरू होती है । यह साधना मन से की जाती है ।

यह 'मन' है क्या ? मन शक्तियों का केन्द्र है । कहा जाता है कि जितनी शक्ति ब्रह्म में है, उतनी ही, हमारे मन में भी है, लेकिन साधारण अवस्था में, वह बाहर फैल कर बिखर गयी है । उसे समेट कर शक्तिशाली बनाया जा सकता है और अद्‌भुत कार्य किये जा सकते हैं । मन ही वह घोड़ा है, जो हमें नीचे संसार की ओर ले जाकर विषयानन्द देता है । यदि उसे

संसार से हटा कर उसका मुख ऊपर मोड़कर परमात्मा की अ
लगा दें तो वह हमें ब्रह्मानन्द तक पहुँचा सकता है । अ
उपासना का उद्देश्य मन की बिखरी शक्तियों को समेट
परमात्मा की ओर लगा देना है । परन्तु हमने संसार की वि
वासनाओं में पड़कर, जन्म-जन्मान्तर से अपने कर्मों का संस्
इसके अन्दर भर लिया है । संस्कारों की धूल ने जमकर
के परम सुन्दर रूप को गन्दा कर दिया है, विकृत कर दिया
और इस अंधेरे आवरण में आत्मा का प्रकाश धुंधला पड़
है । उस परम तत्व, आत्मा का दर्शन प्राप्त करने के लिये,
पर जमे मैल और आवरणों को साफ करना होगा । जब
यह गन्दा है, दर्शन सम्भव नहीं है । सन्त तुलसीदास ने
है -- 'मुकुर मलिन अरु नयन विहीना, राम रूप देखहिं वि
दीना ।'

हमारे मन रूपी दर्पण पर, संसार की छाप अंकित
गयी है । हम बहुत से काम छिपाकर गुप्त रूप से करते
मन उसे लिख लेता है । वह उसी से गन्दा हो जाता है ।
मन की कलोंछ को साफ करना होगा । इसे साफ और नि
करने के लिये एक सरल उपाय श्री तुलसीदास ने बताया
'श्री गुरुचरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार । ब
रघुवर विमल जस जो दायक फल चार ।।' श्री गुरु के च
रज रूपी पतित-पावनी गंगा में मन-मुकुर का मज्जन कर
से प्रभु के उस पावन चरित का बोध हो जाता है,
सांसारिक चारों पदार्थों अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष को देने
है । गुरु की चरण-रज को हृदय में धारण करना ही स
साधना का मूल है । इसी से संसार और परमात्मा सब
प्राप्त हो सकता है । गुरु, नररूप में हरि होते हैं, जिन्हें

ज्ञान और झूंठे अहंकार में फँसा प्राणी समझ नहीं पाता, पहचान नहीं पाता । कहा है --

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णुः गुरुदेवो महेश्वरः ।
गुरु साक्षात् पर-ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

श्री गुरु ही ब्रह्मा रूप होकर शिष्य के अन्तर में ज्ञान और भक्ति का बीजारोपण करके, उसके परमार्थिक जीवन की सृष्टि करते हैं । वही उस परम साधना का विष्णु की तरह परिपालन करते हैं । वह आदि-गुरु शंकर की तरह अहंकार और अज्ञान का नाश करके विवेक प्रदान करते हैं । वस्तुतः साक्षात् ब्रह्म ही, हमारा उद्धार करने के लिये गुरु रूप में शरीर धारण कर अवतरित होते हैं ।

जो पूजा-पाठ हम करते हैं, वह सही नहीं है, इसलिये हमें लाभ नहीं मिलता । हम स्नान करके शरीर को तो साफ कर लेते हैं, धुले-साफ वस्त्र भी धारण कर लेते हैं, परन्तु जिस मन से भजन किया जाता है, उसे नहीं धोते । वह अशुद्ध ही बना रहता है । प्रभु ने स्वयं कहा है -- 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥' उस परमात्मा को छल-कपट नहीं पसन्द है, इसलिये उसकी कृपा पाने केलिये, हृदय से छल-प्रपंच को हटाकर, मन को निर्मल बनाना होगा । इसका एक मात्र साधन, श्री गुरु के चरणों को अपने हृदय में धारण करना ही है ।

OO

रामाश्रम सत्संग की
साधना शैली

****

गीता के अनुसार यह सृष्टि आठ तत्वों से बनी है । इनमें पाँच तो स्थूल हैं -- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और तीन तत्व सूक्ष्म हैं, जिन्हें मन, बुद्धि और अहंकार कहते हैं । भगवान श्री कृष्ण ने, इन्हें आठ विभागों वाली 'जड़ अथवा अपरा प्रकृति' कहा है । इनसे परे आत्मा या परमात्मा है, जिसे गीता में 'परा' अर्थात् चेतन प्रकृति कहा गया है । इन्हीं दो तत्वों के संयोग से, यह सम्पूर्ण सृष्टि, मनुष्य सहित समस्त जीव उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार आत्मा के ऊपर आठ आवरण हुए । अपने भीतर छुप कर बैठे, उस आत्मा तक पहुँचने के लिए, उस अमर तत्व को पकड़ने के लिए, साधक को आठ मंजिलों को पार करना होता है । उसके दीदार के

लिये, आठ पर्दे हटाने पड़ते हैं । शास्त्र बतलाते हैं कि स्थूल के पाँच तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) कर्म-काण्ड से कटते हैं । सूक्ष्म के तीन तत्व या पर्दे -- मन, बुद्धि, अहंकार 'राजयोग' से समाप्त होते हैं ।

भजन-कीर्त्तन, जप-तीर्थाटन, दान-यज्ञ, आसन और पंचाग्नि तपना आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा शरीर से जो कर्म किये जाते हैं, वे सभी कर्म-काण्ड हैं । इसमें अधिक श्रम और समय नष्ट होता है । श्री गुरुदेव कहा करते थे कि जिसने समर्थ सद्गुरु का दामन थाम लिया है, उसके स्थूल आवरण गुरु कृपा से ही नष्ट हो जाते हैं । अतः सत्संग की साधना शैली में साधक को कर्म-काण्ड में नहीं उलझाया जाता । रामाश्रम सत्संग की साधना 'राजयोग' से शुरू होती है । राजयोग का साधन उपासना है, जो मन के क्षेत्र से शुरू होता है । उपासना में साधक परमात्मा को अपने निकट मानता है, अपने सम्मुख रखता है और उनकी तेजोमयी मोहिनी मूर्ति को सामने रखकर उनका प्रकाश लेता है, ज्योति ग्रहण करता है । इससे मन की सफाई होती है । फिर वह गुरु द्वारा निर्देशित विधि से 'धारणा' और 'ध्यान' का साधन कर मनोमय कोश की समाधि में प्रवेश करता है । धारणा के द्वारा मन को एकाग्र किया जाता है, मन के बन्धन काटे जाते हैं । संसार की विषय-वासनाओं और प्रलोभन में पड़कर, मन की शक्तियाँ बिखर जाती हैं । मन कामनाओं के बन्धन में जकड़ जाता है । उसकी बिखरी हुई शक्तियों को समेट कर, गुरु अथवा इष्ट के किसी स्वरूप पर केन्द्रित करना 'धारणा' कही जाती है । चंचल और अब तक बहिर्मुखी हुआ मन, अपनी प्रकृति के अनुसार पकड़ से छूटकर इधर-उधर भागता है । भागे हुये मन को पकड़ कर,

लक्ष्य पर स्थापित करने का प्रयास 'प्रत्याहार' है । बार-बार के प्रयास से, जब मन अपने लक्ष्य पर ठहर जाता है तो उस 'ध्यान' कहते हैं । ध्यान की गहरी अवस्था 'समाधि' है समाधि की प्रथम अवस्था में साधक को अपना तथा बाहर के विषयों का ज्ञान नहीं रहता । अब तक वह जिस छवि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहता था, वह मूर्ति या कल्पित स्वरूप, उसके विचारों में ठहर जाता है । इस अवस्था में साधक को बड़ा आनन्द आता है । अपने इष्ट का दर्शन कर वह मस्ती में झूमने लगता है । यह मनोमय कोश की जाग्रत समाधि की अवस्था है ।

साधना जब कुछ आगे बढ़ती है तो ऐसी अवस्था आती है, जिसमें लक्ष्य भी आँखों से ओझल हो जाता है । साधक, जिस मोहनी छवि को देखकर आनन्द विभोर हो रहा था, जिसे सम्मुख बैठा कर बातें किया करता था और आह्लादित हो जाता था, उसका अचानक आँखों से ओट हो जाना सालने लगता है । लुभावनी छवि को सामने न पाकर, मन इधर-उधर दौड़ पड़ता है । मन में बैठे हुए जन्म-जन्मान्तर के संस्कार, जो अब तक दबे पड़े थे, उभर-उभर कर सामने आने लगते हैं । यह बड़ी उलझन और घबड़ाहट की स्थिति होती है । कुछ ऐसे कुसंस्कार निकलते हैं, अन्तःकरण से ऐसी गन्दगी निकलती है कि साधक को आशंका होने लगती है कि वह नीचे गिर गया है और उसका पतन हो गया है । कुछ लोग घबड़ा कर साधना भी छोड़ बैठते हैं । गुरु महाराज ने बताया कि इस अवस्था में घबड़ाना नहीं चाहिए । अन्तर की दुर्गन्ध, मल, विकार आदि को निकलने देना चाहिए तभी अन्तःकरण निर्विकार होगा । अन्तःकरण की गन्दगी मन के माध्यम से ही निकलेगी । जैसे

कमरे में, जब झाड़ू देते हैं तो सारी धूल उसके दरवाजे से होकर निकलती है, वैसे ही भीतर की गन्दगी मन के दरवाजे से निकलती है । यह मनोमय कोश की ही एक अवस्था है, जिसे 'स्वप्न समाधि' कहते हैं ।

उथल-पुथल की इस अवस्था से साधक को न तो घबड़ाना चाहिए और न तो निराश होकर अपनी साधना छोड़नी चाहिये । समर्थ सद्‌गुरु का दामन पकड़ कर, अपना अभ्यास नियमित रूप से जारी रखना चाहिये । नियमित अभ्यास करते रहने से साधक गुरु कृपा का पात्र बन, इस निराशा-पूर्ण स्थिति से सहज ही उबर सकता है । इधर-उधर दौड़कर मन भी थक कर शान्त हो जाता है, वह विचारों से खाली हो निरोधावस्था को प्राप्त होता है । इसे सुषुप्ति या शून्य समाधि कहा जाता है । यहाँ पहुँच कर मन की साधना समाप्त हो जाती है और साधक बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है ।

साधना, जब बुद्धि क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है तो साधक को दो अवस्थाओं -- सविकल्प और निर्विकल्प स्थिति से गुजरना पड़ता है । प्रारम्भिक अवस्था में बुद्धि में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगते हैं । साधक को भाँति-भाँति की शंकाएँ घेरने लगती हैं । कुछ साधकों को अपनी पूजा-सत्संग पर ही अविश्वास उत्पन्न होने लगता है । वे सोचते हैं कि सत्संग से, उनका कल्याण होगा कि नहीं ? वस्तुतः बुद्धि बहुत तरह के कुतर्क पेश करके साधक की श्रद्धा-भक्ति और साहस की परीक्षा लेती है । इसे सवितर्क या सविकल्प समाधि कहते हैं । जो इन आशंकाओं के असुर के प्रहारों से भयभीत होकर मैदान छोड़

देते हैं, वे साधना की स्थिति से गिर जाते हैं । परन्तु, जो
का दामन दृढ़ता से थामे, योद्धा की तरह डटे रहते हैं, वे
निकल जाते हैं । जैसे यमुना की लहरें, भगवान श्रीकृष्ण
चरण-स्पर्श पाकर शान्त हो गयीं थीं, उसी तरह बुद्धि में उ
तर्क-वितर्क की तरंगें गुरु का चरण-स्पर्श पाकर शान्त हो
हैं । कथा है कि वासुदेव जी बालक कृष्ण को गोद में उ
यमुना पार कर रहे थे । अचानक नदी में जल का स्तर
लगा । वासुदेव जी घबड़ा गए । उन्होंने शिशु कृष्ण को उ
सिर पर रख लिया । लहर ऊँची होती गईं । उसी
भगवान कृष्ण ने अपना चरण नीचे लटका दिया । यमुन
भगवान का चरण-स्पर्श किया और शान्त हो गयीं । जल
कर, इतना कम हो गया कि वासुदेव जी आसानी से नदी
कर गये । इसी तरह साधक की बुद्धि भी, जब तर्क-वितर्कों
आन्दोलित होने लगती है तो गुरु अपना चरण-रज देकर
शान्त कर देते हैं । सत्संग और गुरु-कृपा से शंकाओं
आपसे आप समाधान हो जाता है । तब आती है -- निर्वि
अवस्था ।

आगे अहं तत्व की साधना शुरू होती है । जीव
ईश्वर के बीच सबसे सबल आवरण अहंकार का ही होता
कुछ अहंकार तो स्थूल होते हैं जिन्हें संयम और प्रयास से त
जा सकता है जैसे अपने जन, पद, धन आदि का अहंकार,
इससे भी सूक्ष्म और कठिन अपनी साधना का, साधना
उपलब्धियों का अहंकार होता है, जो अपने प्रयास से
टूटता, नहीं हटता । अहंकार रावण की तरह प्रबल होता है
राम-रावण युद्ध में, रावण का वध करना स्वयं भगवान

लिये बड़ा कठिन पड़ रहा था । रावण युद्ध आयुधों से लैस रथ पर सवार था । भगवान के पास न रथ था और न तन की रक्षा करने वाला कवच ही । एक बार तो विभीषण को भी शंका हो गयी और उन्होंने पूछ ही लिया -- 'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना । केहि विधि जितब वीर बलवाना ।।' प्रभु ने विकट अहंकार रूपी रावण पर विजय का उपाय बताया -- शौर्य, धैर्य, सत्य, सदाचार, बल, विवेक, दम, परोपकार, क्षमा, दया, वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान और ईश-भजन । उन्होंने आगे बताया कि उनके पास एक ऐसा रक्षा-कवच है, जिसे रावण भी नहीं भेद सकता -- गुरु की कृपा, उनका आशीर्वाद । गुरु-कृपा से बढ़कर अहंकार पर विजय प्राप्त करने का दूसरा साधन नहीं है । कहा है -- 'कवच अभेद विप्र गुरु पूजा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ।।' मनुष्य अपने प्रयत्नों से, इसे पार नहीं पा सकता है । गुरु आवश्यकतानुसार शिष्य के अहंकार को ठोकर मारता है । गुरु पहले तो साधक के अहंकार को खूब बढ़ाता है -- साधक सोचने लगता है कि परमात्मा का भजन-पूजन करना है, उसकी साधना काफी ऊँची अवस्था में पहुँच चुकी है, सभी उसका आदर-सत्कार करने लगे हैं, उसके पैर छूते हैं, आदि । साधक जब अपने आपको काफी ऊँचाई पर अनुभव करने लगता है तो उचित समय देखकर, गुरु ठोकर मार कर उसके अहं को शान्त कर देते हैं । ठोकर लगते ही साधक, जो बढ़-चढ़कर ऊँची उड़ाने भरने लगा था, धरातल पर आ जाता है और वास्तविकता को पहचान 'सर्वतो भावेन' उनकी शरण में आ जाता है । तब शिष्य का भाव यही होता है, जैसा कि सन्त तुलसीदास ने कहा है --

कबहु कि भोजन देत कृपा हरि,
कबहूँ कि भूख रह्यो ।
कबहु कि चढ़ी तरंग महाबलि,
कबहूँ कि मारि सह्यो ।
जैसे ही राखो वैसे ही रह्यो ।।

एक पौराणिक प्रसंग है । प्राचीन समय में एक का प्रसिद्ध महर्षि हुए हैं, जिनका नाम धौम्य था उनके आश्रम रहकर अनेक ब्रह्मचारी शिक्षा पाते थे । उनका एक शिष्य -- उपमन्यु । वह सर्व गुण सम्पन्न उच्चकोटि का साधक हु और अपने गुणों के कारण गुरु का प्रिय पात्र बन गया । मह उन्हें काफी चाहते थे । आश्रमवासी भी उपमन्यु को गुरु उत्तराधिकारी मानते थे क्योंकि गुरुदेव ने गुरुकुल की प्रबन्ध व्यवस्था भी उसी को सौंप दी थी । एक दिन महर्षि ने, अ प्रिय शिष्य की परीक्षा लेने का विचार किया । सम्भव उपमन्यु को अपनी उपलब्धियों का अहंकार होने लगा जिससे गुरु ने, उसे ठोकर देना आवश्यक समझा हो । मह ने पास बुलाकर प्यार से बैठाया और कहा -- शिष्य ! तु अपना साधना पूरी कर चुके हो । तुम ऊँचे आसन पर बैठ हो, आश्रम की प्रबन्ध-व्यवस्था भी देखते हो । लेकिन एक ब खटकती है कि तुमने दूसरे ब्रह्मचारियों की तरह कोई से कभी न की । मैं चाहता हूँ कि तुम भी कुछ दिन आश्रम सेवा करो । उपमन्यु ने आदर से शीष झुकाया और कहा आज्ञा हो, गुरुदेव ! पूज्य श्री, मेरे लिये कौन सी सेवा नि की है ?

सोच विचार कर, महर्षि ने आश्रम की गाय चराने

काम उपमन्यु को सौंप दिया । गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर, वह नित्य गाय चराने लगा । पौ फटते ही, वह गुरु को प्रणाम कर, गायों को हाँक कर जंगल में चला जाता और दिन ढलने पर, उन्हें लेकर आश्रम में लौटता । कुछ दिन बाद, महर्षि ने उपमन्यु को बुलाकर पूछा -- बेटा ! तुम प्रातः ही जंगल को निकल जाते हो और अन्धेरा होने पर लौटते हो, पर अपने साथ खाने की सामग्री नहीं ले जाते । भूख लगती है तो क्या खाते हो ? उपमन्यु ने विनम्र होकर कहा -- गुरुदेव ! जो गायें चरने जाती हैं, उन्हीं का दूध पीकर, अपनी क्षुधा शान्त कर लेता हूँ । गुरु ने टोका -- यह उचित नहीं । गायें आश्रम की हैं । बिना अनुमति लिये दूध पी जाना तो अपराध है ।

शिष्य को अपनी गलती का एहसास हुआ । उसने शर्म से सिर को झुका लिया और अपराध के लिये क्षमा माँग ली । वह पहले की भाँति गायों को लेकर जंगल में चराने लगा । उसने दूध पीना छोड़ दिया और बाग के फल तोड़कर खाने लगा । कुछ काल बाद, फिर उपमन्यु को गुरु का बुलावा मिला । महर्षि ने कहा -- बेटा, तुमने दूध पीना छोड़ ही दिया, फिर भी भोजन के लिये साथ कुछ नहीं ले जाते । अब क्या खाते हो ?

उपमन्यु ने फल तोड़कर खाने की बात बता दी । महर्षि ने फिर समझाया कि बाग तो आश्रम की सम्पत्ति है और एक सेवक के नाते, बिना अनुमति के, उसके फल भी ग्रहण नहीं करना चाहिए । उपमन्यु ने, गुरु के पैर पकड़ लिये और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की । उसने आश्रम के बाग का फल खाना भी छोड़ दिया, लेकिन अपने भोजन के प्रबन्ध के

लिए किसी से कुछ कहा भी नहीं । वह कभी भूखे ही र
और कभी ज्यादा भूख सताती तो जंगल के पौधों की प
लेता । दिन बीतने लगे । एक दिन दुर्भाग्यवश, उसने
जहरीले पौधे की पत्ती खाली । जिससे उसकी दृष्टि जाती
जब आश्रम को लौटने को हुआ तो उसे कुछ सूझता
था । रास्ते में, एक कुएँ में गिर पड़ा । कुएँ का जल सू
था । उपमन्यु को काफी चोट आई और वह बेहोश हो

धीरे-धीरे अन्धेरा घिर आया । गायें आश्रम क
गयीं । उपमन्यु को साथ नहीं देख, गुरु को चिन्ता हुई ।
प्रतीक्षा के बाद भी, जब उपमन्यु नहीं लौटा तो मह
आश्रमवासियों को साथ ले, उसकी खोज में निकले ।
जंगल में सभी आवाज दे, उसे ढूँढ़ने लगे । जब उपम
होश आया तो उसे लगा कि कोई आवाज दे रहा है
कुएँ के भीतर से ही उत्तर दिया । महर्षि को समझते
लगी कि उनका प्रिय शिष्य, अन्धेरे कुएँ में फँसा
आश्रमवासियों ने सहारा देकर, उसे बाहर निकाला । शि
घायल और नेत्रहीन देखकर, गुरु के हृदय में करुणा क
उमड़ पड़ा । सारी बातें जानकर, उन्होंने उपमन्यु की गु
की सराहना की और उसे गले लगा, निहाल कर दिया
की परीक्षा पूरी हुई । उपमन्यु परीक्षा में सफल उतरा ।
क्षण-भर में, अपनी सारी शक्ति शिष्य में भर दी, उसे पू
दिया । शिष्य का सारा अहंकार पलक झपकते ही चूर
गया । वह गुरु के कदमों से लिपट गया । कहते हैं
अपने शरीर सहित अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ, शि
शरीर में प्रवेश कर गए । उपमन्यु गुरुमय हो गए ।

रामाश्रम सत्संग की साधना शैली भी यही है । इसमें सिर्फ आवश्यकता है कि साधक, गुरु के आश्रित हो, उनकी शरण में आ जाए । आगे गुरु-कृपा से खुद व खुद सब कुछ हो जाता है । शिष्य को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। गुरुदेव अपनी शक्ति से शिष्य के मल-आवरणों को हटाते हैं, ठोकर देकर, उसके अहंकार को चकनाचूर कर देते हैं और अपनी गोद में उठा, सभी मंजिलों के पार ले जाकर, प्रभु के दरबार में खड़ा कर देते हैं । यह गीता का 'समर्पण योग' है । इसे ही 'द्रष्टा-योग' कहते हैं क्योंकि इसमें साधक गुरु के आश्रय हो चुपचाप बैठ तमाशा देखता है और गुरु कर्त्ता बनकर, शिष्य के लिए साधन करते हैं और उसे पूर्ण बना देते हैं ।

OO

गुरु-त

****

गुरु-तत्व महान है । इसके महिमा-गान से, हमारे
भरे पड़े हैं । समय आने पर स्वयं परमात्मा ही गुरु
आते हैं और शिष्य का कल्याण करते हैं । इसलिये
समझे-बूझे किसी भी सन्त-महात्मा को गुरु न मानना चा
उनका सम्मान करें, उन्हें आदर दें पर गुरु का दर्जा न दें ।
गुरु, अक्षर-गुरु और आध्यात्म-गुरु में अन्तर होता
आध्यात्म-गुरु, वही महापुरुष (सन्त) होते हैं, जो शि
अन्तरात्मा में प्रवेश करके, उसके अज्ञान-अन्धकार को दू
हर क्लेश, मुसीबत और बला से बचा कर, उसे निर्म
शुद्ध बनाते हैं । बिख्यात है कि देवताओं और असुरों ने
सम्मिलित प्रयास से समुद्र-मंथन किया । ऐसा करने से
उन्हें अमृत मिला, वहाँ हलाहल भी निकला । संसा
हलाहल के उत्ताप से जलने लगा । संसार की रक्षा के
आदि-गुरु शंकर भगवान ने, उसे स्वयं पान कर, ज

सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा की और शीतलता प्रदान की । उसी तरह शिष्य, जब अपने कुकृत्य के पापों से जलने लगता है तब कोई शक्तिसाली गुरु अपनी करुणा से शिष्य के सभी पापों को पी जाते हैं और उसका क्लेश-ताप हर लेते हैं । गुरु-शिष्य का रिश्ता जन्म-जन्मान्तर का होता है । जब तक शिष्य का उद्धार नहीं हो जाता तब तक गुरु को शरीर धारण करना पड़ता है। इसीलिए गुरु भी सबको शिष्य-रूप में स्वीकार नहीं करते, लेकिन, जब शिष्य रूप में स्वीकार कर लेते हैं, तो समय-समय पर उसे देखते और कल्याण का मार्ग बताते रहते हैं ।

हजरत निजामुद्दीन औलिया दिल्ली के एक मशहूर फकीर थे । उनकी शोहरत सुन कर, एक जिज्ञासु उनके पास आया । अपनी सेवा और खिदमत से, उन्हें प्रसन्न कर लिया। फकीर ने जज्बे में देखा तो वह व्यक्ति संस्कारी नजर आया । उन्हें खुश जानकर, उस जिज्ञासु ने स्वयं को शिष्य रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की । परन्तु, फकीर ने अपनी शक्ति से जान लिया कि यह पूर्व जन्म में दूसरे का शिष्य था । उन्होंने उस जिज्ञासु को राजगृह के मखदूम साहब नामक फकीर के पास जाने की आज्ञा दी । उन्होंने बताया कि वही उसके गुरु हैं और उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । फकीर ने आशीर्वाद देते हुए कहा -- जाओ । मेरी दुआ है, वहाँ तुम्हारा काम बनेगा । वह जिज्ञासु राजगृह के लिये चल पड़ा । इधर सन्त मखदूम साहब, अपनी अन्तिम साँस ले रहे थे । उनके प्राण मानो अपने शिष्य की प्रतीक्षा में ही रुके थे । ज्योंही वह जिज्ञासु, उनके समक्ष उपस्थित हुआ, मखदूम साहब बिस्तर से उठ बैठे और उसे गले लगा लिया । उन्होंने शिष्य को पल भर में निहाल कर दिया।

और शरीर त्याग कर अमर-धाम को चले गए । इस घटना यह बात स्पष्ट होती है कि गुरु, जिसे अपने शिष्य रूप स्वीकार कर उद्धार का भार लेते हैं, उसे उचित समय पर ढूं लेते हैं । शिष्य को चाहिये कि वह लगा रहे, गुरु के लि प्रार्थना करता रहे । समय आने पर गुरु मिलते ही हैं । गु भी संस्कारी शिष्य पसन्द करते हैं, क्योंकि संस्कारी शिष्य गुरु को प्रसन्नता होती है । ऐसे शिष्य के लिये स्वतः उन हृदय से आशीर्वाद के शब्द निकलते हैं और शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है ।

एक समय की बात है कि एक सन्त अपने धनी शि के घर गये । सेठ ने, अपने गुरु की सब तरह से सेवा की सेठ का एक छोटा पुत्र था, जो हमेशा वेशकीमती आभूषणों सज-धज कर रहता था । माया का ऐसा चक्र चला कि गुरु बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा पड़ गया । आभूषण की लालच उन्होंने बच्चे को गला दबा कर मार डाला और सारे आभूष ले गये । इधर लड़के की खोज-खबर शुरू हुई । चारों तर हाहाकार मच गया । कोई समझ नहीं पाता कि चंगा-भ बच्चा, अचानक कहाँ गायब हो गया । उसके माता-पिता अत्यन्त दुखी देखकर महात्मा का हृदय द्रवित हो गया उन्हें शिष्य को सारी बातें बता दीं और अपराध की सजा भुगत को तैयार हो गए । शिष्य को विश्वास नहीं हुआ । उसने क -- प्रभो ! आप तो हमारे उद्धारक हैं । आपसे यह कुकृ कदापि सम्भव नहीं है । गुरु के लाख समझाने पर भी शि इसे मानने को तैयार नहीं था । शिष्य ने प्रार्थना की -- गुरु ! आप आशीर्वाद दें और अपना चरण-रज देकर, मृत ब

को जीवन-दान दें । आपके चरण-रज से पवित्र, इस जग में कुछ भी नहीं है । वह जगत के सभी क्लेश-तापों का नाश करने वाला और जीव को अमृत-तत्व देने वाला है । ऐसी ही परम निष्ठा और श्रद्धा के साथ गुरु का चरण-रज लेकर, उसने अपने मृत बच्चे को स्पर्श कराया और कहा -- गुरु के चरण-रज से बढ़कर, इस सृष्टि में कुछ भी नहीं है । इसके प्रताप से, तुम जीवित हो जाओ । और वह जीवित हो गया । यह घटना बतलाती है कि गुरु की मर्यादा और महिमा को शिष्य भली-भाँति समझा था । उसका विश्वास, अपने गुरु पर अडिग था ।

जो पहुँचे हुए सन्त हैं, जो परमात्मा में लय होकर प्रभुमय हो चुके हैं, उनका भगवान के दरबार में, वे रोक-टोक आना-जाना होता रहता है । कभी-कभी मौज में आने पर, वे अपने शिष्य के सूक्ष्म शरीर के साथ भी प्रभु-दरबार में जाते रहते हैं और वहाँ पहुँच कर दरवाजा खटखटाते हैं । भीतर से आवाज आती है -- कौन है ? गुरु अपना परिचय देते हैं । फिर पूछा जाता है -- साथ में कोई गैर तो नहीं है ? गुरु कहते हैं -- नहीं । बस, दरवाजा खुल जाता है । गुरु, शिष्य को लेकर प्रवेश कर जाते हैं । प्रभु-दरबारमें, गुरु से गैर को लाने के लिये कैफियत तलब होती है । गुरु बतलाते हैं कि यह तो मेरा अभिन्न रूप है । इसमें द्वैत कहाँ ? गुरु के इस उत्तर से परम पिता परमेश्वर को भी सन्तोष होता है और गुरु इस तरह शिष्य का भी कल्याण करते हैं ।

गुरु नित्य-प्रति अपने शिष्यों के कल्याण के लिए ही प्रभु

के दरबार में प्रार्थना करते रहते हैं। शिष्य के लिये दया
भिक्षा माँगते हैं। प्रभु, अपने पुत्रों की, अपने भक्तों की प्रार्थ
नहीं टालते। जब भिक्षा मिल जाती है तो शिष्य का
कल्याण हो जाता है। हमें नित्य सुबह-शाम बिना नागा कि
श्री गुरु महाराज द्वारा दिये गए, साधना रूपी अनमोल रत्न
तन्मय होकर हृदय में धारण करते रहना चाहिए। इसी
हमारा कल्याण होगा, हम परम-धाम को पहुँच सकेंगे।

OO

श्रेय और प्रेय

****

☆

एक राजा पुत्र के बिना बड़ा दुःखी था । एक दिन उसके पुण्य कर्मों के फल-स्वरूप घर में, एक सन्तान आयी । राज्य का उत्तराधिकारी पैदा हो गया, इस बात से खुशियाँ छा गईं । राज्य भर में उत्सव मनाया जाने लगा । राजा परमात्मा की कृपा को पाकर अत्यन्त आनन्दित हुआ और उसने आदेश दिया कि राज्य की सभी बहुमूल्य वस्तुएँ राज-भवन के बड़े कक्ष में निकाल कर रख दी जायें । आदेशानुसार ऐसा ही किया गया। हीरे से जड़े हुए आभूषण, सोने की जड़ी लगे वेशकीमती वस्त्र सबी एक-एक करके सजा दिए गए । राज्य के कर्मचारियों को आदेश दिया गया कि तुम इनमें से किसी एक को उठा सकते हो । राजा साहब एक बड़ी कुर्सी पर बैठ गए और लोगों के पसन्द करने के ढंग को देख-देखकर विनोद-पूर्वक हँस रहे थे । जो वस्तु उठाते, उन्हें हर्ष और विषाद दोनों होता । हर्ष होता

मन पसन्द वस्तु प्राप्त होने पर और विषाद होता कि अ
ऐसी वस्तुएँ हमारे हाथ से बाहर रह गईं, जो हमें पसन्द थीं

इन सजी हुई वस्तुओं के बीच एक दासी पुत्री घूम र
थी। एक से एक आँखों को बरबस अपनी ओर खींचने वा
चीजों को वह देखती और छोड़ देती। उन्हें लेते-लेते भी मा
कोई चीज भीतर से ऐसा झटका देती कि ली गई वस्तु हाथ
छूट जाती। इस प्रकार दासी पुत्री बढ़ती हुई राजा के पा
पहुँच गयी। सबको उसकी मूर्खता पर आश्चर्य हो रहा था
आखिर इतने बहुमूल्य वस्तुओं को छोड़ कर वह आखिरी छ
पर क्यों आ गई ? क्या ऐसा अवसर बार-बार आयेगा
राजा, राजा होते हुये भी क्या सहज ही, यह उदारता अप
जीवन में फिर कभी दिखा सकेगा ? इन प्रश्नों से राज
कर्मचारी आश्चर्य में पड़े हुये थे, किन्तु दासी पुत्री ने मह
विवेक को कोई समझ नहीं पा रहा था। अन्त में, उस युव
दासी पुत्री ने अपना हाथ, राजा के सिर पर रख दिया अ
उसने पुरस्कार में राजा को ही ले लिया। उसने राज्य में रा
का पद प्राप्त कर लिया और राज्य की सारी सम्पदा की ए
साथ ही अधिकारिणी हो गयी।

इसी प्रकार विश्व में ईश्वर और ऐश्वर्य दोनों हैं
परमात्मा की अनन्त विभूतियाँ हैं। जीवन इन विभूतियों
कामना से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के कठिन कायिक औ
मानसिक तप किया करता है। उसकी तीव्र इच्छा को देखक
विश्वपति, उसको मनचाही वस्तुयें भी दे देते हैं, किन्तु ज
प्राप्त करने का हर्ष उसे मिलता है, वहीं बहुत कुछ प्राप्त न
होता, इसका विषाद भी उसे होता है। जिसे हम सम्पन्न सम

बैठे हैं, उसके हृदय को टटोलने पर वह भिखारी निकलता है, क्योंकि उसकी अनन्त इच्छाएँ अपूर्ण हैं । ऐसी अतृप्त और तपी लोगों को, शास्त्रों की भाषा में प्रेय-मार्ग पर चलने वाला कहा गया है । सबसे बड़े दुःख की बात यह है कि समझ कर भी न समझें और पाकर भी न पावें । इसका कारण यह है कि महान सम्राट के प्रति विमुख होना, जिसका यह पसारा है । उसकी अवहेलना, सारी अशान्तियों के मूल में स्थित है ।

राम विमुख सम्पत्ति प्रभुताई ।
जाइ रही पाई बिनु पाई ।।

इसलिये सन्त जनों ने ईश्वर सन्मुखता का मार्ग ही दिखलाया है । जगत की दासता में फँसे हुए जीव की मुक्ति या बन्धन हीन होने का मार्ग है, वह एकमात्र परमात्मा को चाहे । परमात्मा के प्रति अविचल निष्ठा के लिये सद्‌गुरु के शरणापन्न हो । यह निष्ठा वह परम लाभ है, जिसे प्राप्त कर और किसी लाभ को महत्व नहीं दिया जा सकता ।

गीता में कहा है --

'यं लब्ध्वाचारं लाभंमन्यते नाधिकं ततः'

नदी चाहे जितनी भी उफनती हुयी बह रही हो किन्तु उसका सम्बन्ध किसी बर्फीले पहाड़ से नहीं होता तो ग्रीष्म की विषमता में वह सूख जाया करती है ।

सजल मूल जिन सरितन्ह नाहीं ।
समय गये पुनि जाहि सुखाहीं ।।

आदमी चाहे जितनी भी सांसारिक उन्नति करे फिर भी

विपरीत का काल-चक्र उसकी प्राप्ति को मटियामेट कर
है। इसलिये वही धन्य है, जिसकी सुमति रूपी दासी
परमात्मा को वरण कर लेती है। ऐसे ही मानव को परम
की शरणागति प्राप्त करके जीवन को धन्य करना चाहिए
यही कल्याण का मार्ग है, जिसे श्रेय-मार्ग कहा गया।

प्रभुता ही को सब भजे।
प्रभु को भजे न कोय॥
प्रभुता छाड़ि प्रभु को भजे।
प्रभुता दासी होय॥

पराविद्या -- क्या और क्यों ?

****

☆

जिस सृष्टि में हमारा निवास है, वह द्वैत से बना है -- प्रकृति और पुरुष । प्रकृति स्थूल एवं जड़ है, पुरुष चेतन एवं सूक्ष्म । इसी तरह मनुष्य का शरीर भी द्वैत से बना है -- एक हमारा यह दृश्य शरीर और दूसरा इसके भीतर निवास करने वाला चेतन-तत्व आत्मा । इन दो तत्वों के ज्ञान के लिए विद्या भी दो तरह की है -- एक से संसार, उसके भौतिक तत्वों और उसकी वस्तुओं का ज्ञान होता है, दूसरे से सूक्ष्म आत्मा का । एक को 'अपरा विद्या' और दूसरे को 'परा विद्या' कहते हैं । 'अपरा विद्या' का सम्बन्ध संसार और उसके भौतिक तत्वों के ज्ञान से है । यह लौकिक अथवा बाह्य ज्ञान है । अपने बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से पढ़-लिख कर या देख-सुन कर जिन बातों का ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, वे सब 'अपरा विद्या' के ही अंग हैं । स्कूल-कॉलेजों में 'अपरा-विद्या' की ही पढ़ाई होती है ।

'परा-विद्या' आन्तरिक, आत्मिक या पारमार्थिक ज्ञान है ।
आन्तरिक तत्व आत्मा का ज्ञान होता है । अन्तर के ज्ञान
अन्तर के सान्निध्य की, अन्तर में प्रवेश की जरूरत होती
हमारी बाह्य इन्द्रियों की पहुँच वहाँ तक नहीं होती । अतः
ज्ञान मौखिक उपदेश से नहीं दिया जाता । यह आत्म
आत्मा को दिया जाता है । अभी हमारी वृत्ति बहिर्मुखी
पराविद्या जानने के लिये अपनी वृत्तियों को बाह्य-जगत
अन्तर्जगत में लाना होगा, तभी हम ध्यान द्वारा अन्तर
ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

इस ब्रह्माण्ड में, जहाँ तक माया की पहुँच है,
शक्तियाँ सत्, रज और तम हमेशा काम करती रहती हैं ।
शक्तियों के भेद से वाह्य एवं अन्तर्जगत की तीन अस्थायें
गई गैं -- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । प्रत्येक वस्तु, चाहे
स्थूल हो या सूक्ष्म, उत्पन्न होती हैं, ठहरती है और फिर
हो जाती हैं । ये ही तीन स्थितियाँ जाग्रत, स्वप्न और सु
हैं, जो सत्, रज और तम के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं । ज
या उत्पत्ति में सत्, स्वप्न या ठहराव में रज और सुषुप्ति
लय में, तम शक्तियों की अधिकता रहती है । ये
अवस्थाएँ माया के क्षेत्र में पड़ती हैं और हर क्षण ब
रहती हैं । इसलिये ये तीनों असत्य हैं । इससे आगे अ
(परमात्मा) का निवास है । यहाँ पहुँच कर जीव जन्म-
हर्ष-विषाद, कर्म-अकर्म, अपना-पराया की स्थिति से ऊपर
जाता है और सदा एकरस अविनाशी परमानन्द की अनु
करता है । जीव का यही निज स्थान है जहाँ से भटक
वह संसार में नीचे आकर लिप्त हो गया है । 'पराविद्या'
लक्ष्य, अपने वास्तविक निज स्वरूप का बोध कराता है

एक बार राजा जनक जी, अपने रंग-महल में सो रहे थे। उन्होंने स्वप्न में देखा कि कुछ आक्रमणकारियों ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया है । राजा जनक, प्राण-रक्षा हेतु जंगल में जा छिपे । जंगल में बहुत दूर निकल जाने के बाद उन्हें भूख-प्यास सताने लगी । भोजन तथा जल की तलाश में वे इधर-उधर भटकने लगे । उन्होंने कुछ दूर पर एक साधु-मंडली को देखा । वहाँ पहुँच कर, राजा ने भोजन की याचना की । साधु-मंडली के पास, जो थोड़ा अन्न उपलब्ध था, उसे उन्होंने राजा को दे दिया । राजा ने खाने के लिये ज्योंही पहला ग्रास उठाया कि आकाश मार्ग से आकर एक चील ने उस ग्रास को झपट लिया । राजा, इस स्थिति से काफी दुःखी हुए और अत्यन्त विकल हो फूट-फूट कर रोने लगे । रोते-रोते उनकी नींद खुल गई । उन्होंने अपने को राज-प्रासाद के एक सुसज्जित कमरे में पलंग पर पाया । वे चौंक पड़े और समझ नहीं पाये कि वे जंजल में थे अथवा राजभवन में । इस स्वप्न ने उन्हें झकझोर दिया । वे विक्षिप्त हो गये और पण्डितों तथा मन्त्रियों से अपने स्वप्न की घटना को कह सुनाया । उन्होंने उनसे पूछा कि क्या वे बता सकते हैं कि उनका राज-भवन में होना सत्य है अथवा जंगल में होना ? सबों ने अपनी-अपनी अटकलबाजी लगायी पर किसी के उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । अन्त में श्री अष्टावक्र मुनि ने उनकी शंका का समाधान किया । उन्होंने बताया -- हे राजन् ! न तो वह स्वप्न की अवस्था सत्य है और न आपका जागना सत्य है । तीनों अवस्थाएँ -- जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति असत्य हैं । सत्य तो आप हैं, जो तीनों अवस्थाओं में जागे रहे ।' कहने का तात्पर्य यह है कि स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत, इन तीनों अवस्थाओं से परे जो 'तुरीयावस्था'

है, एक मात्र वही सत्य है । यह माया से परे त्रिगुणा
अवस्था है, जो कभी नहीं बदलती, कभी नहीं गिरती ।

राजा जनक की तरह हम सब भी इस त्रिगुणमय सं
को सत्य मान बैठे हैं । अभी हम यही जानते हैं कि हम
तीन हाथ लम्हा शरीर मात्र हैं । हम इस शरीर को ही
कुछ समझते हैं और धन, पुत्र, पत्नी तथा बन्धु-बान्धवों
अपना मानते हैं । लेकिन जब काल की घंटी बजेगी, इन स
नाता टूट जायेगा । फिर अपना कुछ नहीं रहेगा, केवल
अविनाशी आत्मा के सिवाय । अपने सत्य-स्वरूप को पहचा
ही 'परा-विद्या' का लक्ष्य है । अब तक हमने जो कुछ अ
किया है, वह शरीर और संसार के लिए । यह तो वही हु
कि किसी व्यक्ति ने काफी मेहनत करके धन कमाया और
दूसरे के खाते में जमा कर दिया । वह आपके कोई काम
आयेगा और अन्त में आप खाली ही रह जायेंगे । इस जी
में सब कुछ अपने लिए, आत्मा के लिए संचित करना है
आत्मिक धन ही असली धन है ।

O

योग क्या और कैसे ?

****

☆

एक बार ऋषि पतंजली ने शिष्यों से पूछा -- प्रभु योग क्या है और यह कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में महर्षि ने जो बताया, उसका सारांश यह है कि योग एक सहज-स्वाभाविक क्रिया है, जिसका अनुभव प्रत्येक प्राणी को आये दिन होता रहता है । योग का साधारण अर्थ है -- मिलाप । जब हम किसी इच्छित वस्तु से तन्मय होकर मिलते हैं तो हमारा उस वस्तु से योग होता है । हम हमेशा योग ही करते रहते हैं, जैसे भोजन करते समय अन्न से, नौकरी पर जाकर नौकरी से, आदि । पर यह असल योग नहीं है । आध्यात्म के क्षेत्र में, योग का एक विशेष अर्थ में प्रयोग होता है । जीव से परमात्मा के मिलन को योग कहते हैं । मन को सांसारिक विषयों में फँसा कर विषयानन्द लूटना 'भोग' तथा विषय वासनाओं से मुख मोड़कर, चित्त की वृत्तियों का सब तरह से निरोध करके

परमात्मा के साथ समाहित-चित्त होकर, आत्मानन्द की अ करना योग है । अतः योग के लिए बहिर्मुखी होकर लिप्त को सिर्फ रोककर आत्मा की ओर मोड़ना है 'योगश्चित्त निरोधः ।'

योग में शान्ति है, आनन्द है । जीव की यही मौ अवस्था है । इसलिए वह हमेशा उस सहज सुख की त करता रहता है, 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन सहज सुख राशी ।' लेकिन वह माया के चक्कर में पड़कर गिरता हुआ, संसार की विषय-वासनाओं में फँस कर भोग स्थिति में पड़ गया है, इसीलिए दुःखी और अशान्त है । से वियोग में आना ही सब पीड़ा का कारण है । जैसे बालक अपने माता-पिता से बिछुड़ जाता है और जब खिलाने-पिलाने वाला, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान देने कोई नहीं रहता तो वह अत्यन्त दुःख को प्राप्त होता है, तरह जीव अपने निज भण्डार परमात्मा से, अपने माता कुटुम्ब-परिवार से बिछुड़ कर दुःखी हो रहा है, अशान्त हो है । जब तक वह निज स्थान को नहीं लौट जाता, पर से उसका योग नहीं हो जाता, तब तक उसे आनन्द नहीं सकता । परन्तु इस सत्य को जाने बिना मनुष्य आनन्द खोज में, इधर-उधर भटक रहा है, गलत दिशा में बढ़त रहा है । वह सांसारिक वस्तुओं में आनन्द और शान्ति रहा है, जहाँ वह है ही नहीं । जो चीज जहाँ नहीं है, ढूँढ़ने से मिल भी कैसे सकती है ? उसे आनन्द और की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वह अपने निज स्थान लौट जाए, वियोग से योग की स्थिति में आ जाए । इ

हमारा कल्याण इसी में है, कि हम योग के लिए प्रयास करें । वस्तुतः इसलिए ही मनुष्य का तन मिला है ।

'बड़े भाग मानुष तनु पावा ।
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थहि गावा ।।'

लेकिन यह योग हो कैसे ? हमारी वृत्तियाँ अत्यन्त चंचल हैं, जो एक क्षण के लिए भी, हमें शान्ति से भीतर बैठने नहीं देतीं । इस चंचल वृत्ति का कैसे निरोध हो ? महर्षि ने बताया -- 'अभ्यासेन वैराग्यभ्यांतन्निरोधः ।' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से संचल वृत्तियों को शान्त किया जा सकता है। गुरु द्वारा बताई क्रिया से मन को एकाग्र करने का बार-बार प्रयास करना अभ्यास है । मन हटने पर उसे खींचकर फिर उस पर लगाये । जैसे कोई साइकिल चलाना सीखता है तो सीखने के दौरान कितनी बार गिरता है । उसी क्रम में थोड़ा चला भी लेता है । गिरने पर भी, वह प्रयास छोड़ता नहीं और सिखाने वाले पर विश्वास जमा कर कोशिश करते रहने पर, एक दिन वह निपुणता प्राप्त कर ही लेता है । उसी तरह साधना में भी गुरु में श्रद्धा-विश्वास रखकर अभ्यास निरन्तर जारी रखना चाहिए ।

इस संसार तथा इसकी विषय-वासनाओं में अरुचि होना ही वैराग्य है । इसका यह मतलब नहीं कि घर-बार छोड़कर लगोंटी लगा लें और जंल में जा बैठें । जंगल में जाकर भी, यदि मन से संसार का चिन्तन करते हैं तो वह वैराग्य नहीं हुआ । संसार के सभी दायित्वों का निर्वाह करते हुए यदि मन का फँसाव, उसमें नहीं रखें तो यह सही अर्थ में वैराग्य है । वैराग्य किसी वस्तु को शरीर से त्यागना नहीं बल्कि मन से त्यागना है ।

हम जानते हैं कि भूत, भविष्य और वर्तमान तीन हैं। इनमें भूत बीत गया, बात समाप्त हो गयी। जो गया वह बीत ही गया। उसमें अपने को उलझाए रखना बुद्धिमानी नहीं है। अतः यह असत्य है। कल मैंने अच्छा-अच्छा भोजन किया। कल के सुभोजन का आज अस्तित्व है? फिर भविष्य भी अज्ञात है। कोई सोचे कि उसे अच्छा भोजन मिलेगा, लेकिन कल किये गये अच्छे भ या भविष्य में मिलने वाले भोजन के ख्याल से, आज की की तृप्ति नहीं हो सकेगी। अतः भूत और भविष्य असत्य हैं। पर स्वभाव वश हम भूत काल की बात स रहते हैं और भविष्य का हवाई किला बनाते रहते हैं। दोनों प्रकार की क्रया-कलापों में अपनी शक्ति का क्षय क किसी भी दृष्टिकोण से उचित और उपयोगी नहीं कहा सकता। बुद्धिमानी इसी में है कि हम अपने को भूत भविष्य को धींगा-धांगी से बचाकर वर्तमान और केवल वर्त को ही साधे। इसमें ही अपनी स्थिति बनाये रखें। इस संसार की असत्यता का बोध होता है।

हम चल चित्र में अनेक पहाड़, नदी, नहर तथा दृश्य देखते हैं। इसमें जो चित्र हम पर्दे पर देखते हैं, वे असत्य हैं। किन्तु फिल्म प्रकाश से प्रकाशित हो सत्य भासता है। ठीक इसी तरह आत्मा के प्रकाश से प्रका होकर, यह असत्य संसार सत्य सा भासता है। यह अ साधारण मनुष्य की समझ से बाहर है। इससे निकलना नहीं।

इस ब्रह्म विद्या को प्रथम तो कहना ही बहुत मुश्

है, फिर सत्य-असत्य का समझना भी कठिनाई से सम्भव है। अपने से इस योग की साधना भी सहज नहीं है। यह तो उस परम गुरु की महान दया है, जो हम सभी अपनी साधना में जैसे-तैसे सवृत हैं। वर्तमान की स्थिति में लाने का प्रयत्न करना है। जब हम मन को शान्त और निर्विकार बना लेंगे और उसकी वृत्ति को बाहर की तरफ से मोड़कर अन्तर्मुखी करेंगे तब हमारी दृष्टि सर्व-व्यापक होगी और हम देख पायेंगे कि यह सारी सृष्टि हमसे ही चल रही है, हम इसके नियामक हैं। ऐसा बोध उस परम तत्व की प्राप्ति पर ही होता। परन्तु, यह भी उस सद्‌गुरु की कृपा से ही सम्भव है। वह परम कृपालु अपनी कृपा-दृष्टि से जिसे देखेंगे, वह सर्वत्र प्रभुमय जानकर, उनमें ही गति करेगा। कहा है --

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहि-तुमहि होई जाई॥

यह हमारा सौभाग्य है कि मनुष्य तन मिला। उस पर भी हम पर यह विशेष कृपा है कि श्री गुरुदेव की सहज साधना मिली है। बड़े भाग्यशाली हैं हम सब, कि हमारे हृदय में आ रहे हैं। यह हमारे कल्याण का एकमात्र सम्बल एवं परम मौलिक धन है। हम सद्‌गुरु रूप, उस परम पिता परमात्मा के पावन चरण-कमल को हृदय में धारण करके, अपना कल्याण करें।

OO

आत्म-कल्याण केलि
कर्म सुधा

****

वेद की तीन मुख्य बातें हैं -- कर्म, उपासना और ज्ञा
ईश्वर की प्राप्ति के ये ही तीन उपाय कहे जाते हैं । ये त
अलग-अलग नहीं वरन् एक ही साधन के अंग हैं । इनमें
नीचे की साधना है, उपासना बीच की और ज्ञान अन्त की
कर्म से उपासना, उपासना से ज्ञान और ज्ञान से सायुज्य मु
मिलती है । मानस में एक स्थान पर आया है -- 'कर्म प्र
विश्व करि राखा । जो जस करहिं सो तस फल चाखा
अर्थात् इस कर्म प्रधान संसार में, जो जैसा करता है, वैसे
की प्राप्ति उसे होती है । यह संसार एक कर्म-क्षेत्र है । जो
आया है, उसे अपने शरीर और आश्रितों के भरण-पोषण
लिये कुछ न कुछ कर्म तो करना ही पड़ता है और करना
चाहिए क्योंकि मालिक ने जिस काम पर लगा दिया है, उस
पूरा करना ही मनुष्य का धर्म है ।

जो कार्य बाह्य-इन्द्रियों द्वारा किये जाते हैं, चाहे वे सांसारिक व्यवहार हों या आत्मिक परमार्थ, पर हैं वे सभी कर्म। इसमें कर्त्तापन का भाव रहता है, अतः अपनी नीयत के अनुसार फल मिलता है । जन-साधारण की यही अवस्था होती है । वह समझता है कि संसार के समस्त कार्य, वह ही करता है -- खाना-पीना, उठना-बैठना, नौकरी-पेशा करना और धन-वैभव कमाना आदि । पर कर्म की दो श्रेणियाँ होती हैं -- शुभ और अशुभ । अशुभ-कर्म हमें नीचे गिराते हैं, जो भोग और संस्कार वश होता है । जैसे यदि कोई चोरी करता है और पकड़ा जाता है तो उसकी सजा उसे अवश्य मिलती है । चोरी, छल-प्रपंच, झूठ-फरेब जैसे अशुभ कर्म, हमें आत्म-उन्नति के पथ से विमुख करते हैं । ऐसे ही किसी की भलाई करने, दुखियों की सेवा-सहायता करने, स्कूल-अस्पताल बनवाने आदि शुभ-कर्मों को करते समय एक विशेष अनुभूति होती है, स्वर्ग-सा आनन्द प्राप्त होता है । परेशानियाँ भी आती हैं, लेकिन लगता है कि कोई शक्ति उसकी सहायता कर रही है । सत्संग को ही लीजिये । इसका आयोजन देखकर, सभी विस्मय से कहते हैं कि कैसे-कैसे सब कुछ हो जाता है ?

शुभ-कर्म ईश्वर की ओर लगाता है, किसी अदृश्य दैवी शक्ति की सहायता का एहसास कराता है । जो पहले कर्म के फल को अपनी उपलब्धि मानता था, वह सोचने लगता है कि क्षेत्र तैयार करना तथा बीज को बो देने तक ही मेरा अधिकार है, यहीं तक मेरी बिसात है । उसे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलों से पूरिपूरित करना मेरी शक्ति से परे है । ये सभी कार्य, किसी अदृश्य शक्ति द्वारा ही होते हैं । इस प्रकार कर्त्ता को कर्त्तापन के अहंकार से छुटकारा मिलने लगता है और उसे

बोध होता है कि कर्म करना मात्र ही मेरा अधिकार है,
तो देने वाला कोई और है ।

गीता में कहा गया है --कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फ
कदाचन । इस तरह से उसके जीवन में भगवद्-तत्त्व
अनुभूति होती है और वह समझने लगता है कि कुछ तो
करते हैं और कुछ परमात्मा करते हैं । इस तरह वह उपा
क्षेत्र में प्रवेश करता है । कुछ दिनों तक साधना इसी क्रम
चलती है । लेकिन आगे चलकर यह उपासना-काण्ड भी
धीरे समाप्त होने लगता है और वह ज्ञान-काण्ड में शनैः-
प्रवेश पाने लगता है । उसका अहंकार तिरोहित होने ल
है । अब वह अनुभव करने लगता है, कि जो भी कार्य
है, सभी परमात्मा-शक्ति ही करती है । हमारा शरीर जो ह
करता है, वह तो परमात्मा ही कराता है । अब वह सारे
में परमात्मा की अनुभूति पाता है । इस अवस्था को
मनुष्य करता हुआ भी, उसमें लिप्त नहीं होता, शुभ-अ
कर्मों का दोष, उसे नहीं लगता । ऐसा ज्ञानोदय होने पर,
उसे प्रभुमय दीखता है । सबमें प्रभु की लीला नजर आती
अपना-पराया, भला-बुरा की भेद-दृष्टि मिट जाती है
'सियाराम मय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि
पानी ।।' की स्थिति हो जाती है ।

हजरत मौलाना रूप साहब के जीवन की एक
है । वे एक पहुँचे हुए फकीर थे । एक बार वे बीमार
खुदा से दुआ माँगी और ठीक हो गए । दूसरी बार भी
ही हुआ । जब तीसरी बार फिर बीमार होने पर दुआ
तो उन्हें आकाशवाणी सुनाई पड़ी -- अरे रूम ! यह शरी

है, इसका मालिक मैं हूँ तो फिर तुम इसकी फिक्र क्यों करते हो ? मौलाना को होश हुआ और अल्लाह-ताला से अपनी भूल के लिये माफी माँगी और कहा -- या खुदा ! यह शरीर आपका, मैं आपका, इसे तुम जैसा चाहो, रखो ।

इस परम ज्ञान को प्राप्त करने के लिये हमें साधना करनी चाहिये । इसकी शिक्षा रामाश्रम सत्संग में दी जाती है । परमात्मा हमारे हृदय में है, लेकिन जन्म-जन्म के संस्कारों की धूल ने हमारे हृदय को मलिन कर दिया है, जिससे परमात्मा की ज्योति नजर नहीं आती । उनका दीदार पाने के लिये हृदय को साफ करना होगा, जो सत्संग की साधना से सम्भव है ।

OO

दुःख का कारण और निदा

****

आज सर्वत्र एक अजीब अशान्ति, बेचैनी और
देखने को मिलती है । ज्ञान-विज्ञान के विकास ने, मनुष्य
सुख-आराम के नये-नये साधन उपलब्ध कर दिए हैं, फिर
शांति नसीब नहीं है, आनन्द नहीं है । मनुष्य देवता,
पक्षी, कीट-पतंग सबको शान्ति और आनन्द की तलाश
इसी के लिये सारे प्रयास होते हैं । पढ़ना-लिखना, नौकरी-
करना, घर बसाना, धन-सम्पत्ति जमा करना सबका एक
लक्ष्य है । अनुभव बताता है कि मित्र-परिवार, पद-ऐश्वर्य
धन-दौलत में क्षणिक सुख का भ्रम भले ही हो लेकिन स
आनन्द नहीं है । लगता है कि मकान होने से दुःख दूर
जायेगा । पर एक ही लालसा पूरी होते ही दूसरी सुख-सु
की चाहना सताने लगती है । दल-दल में पड़े प्राणी की
हम अपनी ही चाहना के घेरे में और अधिक जकड़ते जाते
ऐसा क्यों होता है ? हमारे सारे प्रयास सुख-शान्ति के
होते हुए भी, हमें वह क्यों नहीं मिल पाता ? हमारे दुःख

कारण हमारा अज्ञान है । जैसे अन्धेरे में रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है, ठीक उसी तरह हम संसार को मान बैठे हैं और इसमें आनन्द ढूँढ़ रहे हैं । मौलिक आनन्द जो जहाँ से उसकी निःसृति है, वहाँ न ढूँढ कर गलत दिशा में भटक रहे हैं । यही कारण है कि यथार्थ वस्तु न पाकर, भ्रमवश हमें दुःख उठाना पड़ता है ।

यह संसार प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन का खेल है । प्रकृति जड़ है । इसमें अज्ञान है, अन्धकार है । यह अपने सभी तत्वों के साथ परिवर्तनशील है, नश्वर है । संसार के विनाशशील पदार्थों से सम्बन्ध करने पर, हमारा विनाश भी निश्चित है, जैसे किसी डूबती-डगमगाती नैया पर कोई सवार हो जाये तो उसके साथ वह भी डूब मरेगा । सृष्टि का चैतन्य तत्व आत्मा, सदा एक रस रहने वाला सत्य-सनातन है ।इसमें प्रकाश है, ज्ञान है और आनन्द है । इसका कभी नाश नहीं होता । अतः यदि हम आनन्द चाहते हैं तो संसार की ओर न जाकर, उस अविनाशी सदा एकरस रहने वाला आत्मा (परमात्मा) को पकड़ना होगा, उस सत्य, उस प्रकाश की ओर चलना होगा। वेद में भी यही प्रार्थना की गई है -- 'असतो मा सद गमय । तमसो मा ज्योतिर्मगमय । मृत्योर्माऽमृतंगमय ।'

हमारा प्रमुख कर्त्तव्य उस परम तत्व को प्राप्त करना ही है । हम इसलिए ही संसार में भेजे गए हैं । लेकिन भ्रम में पड़कर, हम असत् से चिपके हुए हैं । यह असत् धारण भी अपने वश की नहीं होती है । नहीं चाहने पर भी गति के साथ यह क्षण-क्षण बनती बिगड़ती रहती है, जैसे यदि कोई अन्न ज्यादा ग्रहण कर ले तो उसे अफरा हो जायेगा और तब वह चाहता हुए भी भोजन न कर सकेगा । जिस शरीर को हम

सबसे अधिक प्यार करते हैं, उसकी अवस्था भी हमारी इ
के विरुद्ध किसी प्रबल दैवी शक्ति की प्रेरणा से बदलती र
है । हम चाहते हैं कि सदा-सर्वदा युवा बने रहें, लेकिन
नहीं हो पाता । युवा अवस्था ढलकर बुढ़ापा में बदल ज
है। मन के अनुकूल होने पर जहाँ सुख मिलता है,
विपरीत होने से दुःख होता है । शास्त्रों ने इसे द्वन्द्व का
दिया है ।

इस संसार में सत् भी है, असत् भी, प्रकाश भी
अन्धकार भी, सुख भी है, दुःख भी । इसमें हमेशा एक विप
शक्ति कार्य करती रहती है जैसे -- जीवन-मृत्यु । यहाँ फूल
काँटे दोनों हैं । यदि हम काँटा चुनेंगे तो उससे वसन एवं श
के क्षत-विक्षत होने का भय तो बना ही रहेगा । यदि फूल
तो उसकी सुरभि से घर आँगन सुबासित होगा, दृष्टि को
मिलेगा । अतः ज्ञानी पुरुष संसार से अच्छाई को, सत्
ग्रहण करते हैं और दोष को त्याग देते हैं । सन्त
तुलसीदास ने भी कहा है -- 'जड़-चेतन गुन दोषमय ि
कीन्ह करतार । सन्त हंस गुन गहहिं परि हरि बारि विकार
उन्होंने आगे बताया कि जीवन में आनन्द प्राप्त करने के
प्रभु भजन अनिवार्य है । बिना इसके क्लेशों का नाश
होता, नहीं हो सकता --

राम भजन विनु सुनहु खगेसा ।
मिटहि न जीवन केर कलेसा ।।

मनुष्य जहाँ खड़ा है, उस जगह से दो रास्ते निकल
-- प्रथम 'प्रेय-मार्ग' और दूसरा 'श्रेय मार्ग' । प्रेय मार्ग
संसार की ओर ले जाकर विषय वासनाओं में फँसाता है ।
प्रारम्भ में आनन्ददायक नजर आता है, परन्तु आगे कंटका

है । यह ऐसे बन्धन का रास्ता है, जिससे निकलना दुष्कर हो जाता है । इस मार्ग में दूर तक सफ़र किये पथिक से पूछने पर, वह भी कहेगा कि संसार के सारे धन-ऐश्वर्य प्राप्ति कर लेने के बावजूद उसे घोर कष्ट है, बहुत कठोर बन्धन है, जिसे उसने खुद चुन रखा है । इस बन्धन में भी उसे ऐसे सुख का भ्रम हो गया है कि वह उससे निकलना भी नहीं चाहता, जैसे -- शराब के नशे में पड़ा व्यक्ति उस झूठे सुख को छोड़कर निकलना नहीं चाहता । यह संसार भी हमें झूठे नशे के रूप में मिला है और हम होश में आना ही नहीं चाहते -- 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरंचि सम ।'

एक कथा है । मृत्यु लोक के प्राणियों का नारकीय जीवन देख कर ब्रह्मर्षि नारद को बड़ी दया आई । उन्होंने भगवान विष्णु से इनका उद्धार करने के लिये प्रार्थना की । भगवान ने नारद जी को बहुविध समझाने का प्रयास किया, परन्तु मुनिवर अपनी बात पर अड़े रहे । अन्त में भक्त की टेक रखने वाले भगवान ने बात मान ली । वे स्वर्ग का द्वार एक दिन के लिए खोलने को राजी हो गए । मुनिवर को मृत्यु-लोक के दुःखी प्राणियों को बुला लाने के लिये भेजा गया । नारद जी, प्रभु की अनुमति पाकर खुशी-खुशी मृत्यु-लोक आये । प्रथम दृष्टि उनकी एक कृशकाय बूढ़े पर पड़ी, उसके घर वाले उसे बहुत कष्ट देते थे । मुनिवर ने, उस बूढ़े से भगवान का आदेश बता कर अपने साथ स्वर्ग चलने का निमन्त्रण दिया । बूढ़े ने धन्यवाद देते हुए तत्काल स्वर्ग जाने में, असमर्थता जताते हुए कहा -- मुनिवर ! मैंने तो संसार को काफी देखा भाला, परन्तु एक लालसा अभी बाकी है । अभी तक मैंने पौत्र का मुख नहीं देखा है । कुछ ही काल बाद मेरी पुत्र-वधु को प्रसव होने वाला है । आप कुछ दिन ठहरें तो मैं

चलूँगा । ब्रह्मर्षि नारद जब भी उससे मिलते, बूढ़ा कोई न क बहाना बना कर टाल जाता । इस बीच नारद जी ने मृत्यु-ल के हर उस जीव-जन्तु से भेंट की, जो उन्हें दुःखी नजर आ सब किसी न किसी लालसा में जकड़े होने के कारण कुछ कुछ बहाना गढ़ लेते । अन्त में, उन्हें एक ऐसा शूकर मि जो कीचड़ में सना नारकीय जीवन व्यतीत कर रहा था । न जी ने उसे स्वर्ग चलने को कहा । इस पर शूकर ने यह जान चाहा कि स्वर्ग में उसे विष्ठा खाने को मिल सकेगा या नह नारद जी ने, उसे आश्वासन दिया कि स्वर्ग में उत्तम भोज पदार्थों के समक्ष उसे गन्दगी खाने की कोई रुचि नहीं रहे परन्तु यह जानकर कि वहाँ गन्दी चीजें नहीं मिल सकती, शूकर ने स्वर्ग जाने से इन्कार कर दिया । नारद जी नि होकर, अकेले मृत्यु-लोक से वापिस लौट गए और भग विष्णु को सारा वृत्तान्त कह सुनाया । इस पर भगवान ने समझाया कि वे सभी प्राणी प्रेय-मार्ग में सांसारिक माया से जकड़ गए हैं कि उस दुःख में भी, उन्हें सुख का भान होने है और अज्ञानता के कारण उसे त्यागना नहीं चाहते ।

संसार के झूठे जंजाल से छूटने का एक ही रास्ता -- श्रेय-मार्ग । यह रास्ता चढ़ाई का है और प्रारम्भ में दु है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम चढ़ाई करते जायेंगे, शीतल सु बयारों से अनिवर्चनीय आनन्द एवं शान्ति की अनुभूति हो यह रास्ता हमें परमात्मा के पास पहुँचाकर, सभी बन्धनों मुक्ति दिलाता है । मनुष्य शरीर पाकर यही हमारा धर्म है संसार के सारे कार्य करते हुए भी, उसमें लिप्त न हों भगवान को सदा याद रखें -- 'देह धरे कर फल यह भजिअ राम सब काम बिहाई ।' समय रहते अगर चेत हुआ तो जैसा शास्त्र बतलाते हैं, चौरासी लाख योनि का

लगा ही रहेगा । यह अमूल्य मानव-जीवन पानी की तरह बहता जा रहा है । बुद्धिमानी इसी में है कि किसी तरह लग-भिड़ कर अपना कल्याण कर लें वरना यम के दूत पहुँचेंगे तो यह रिश्ते-नाते, धन-सम्पदा, पद-ऐश्वर्य सब कुछ काम नहीं आयेगा । 'बहुत गई थोड़ी रही थोड़े भी अब जाए ।'

गीता के अनुसार हमारा शरीर आठ तत्त्वों से बना है इनमें पाँच स्थूल के और चित्त, बुद्धि, अहंकार तीन सूक्ष्म के हैं । इनसे परे आत्मा है । आत्मा और शरीर के बीच एक मुख्य स्थान है, जिसे मन कहा जाता है । मन में ही मनुष्य की स्थिति होती है । यहीं से एक रास्ता नीचे की ओर ले जाकर संसार में फँसाता है जिसे प्रेय मार्ग कहा गया है और दूसरा श्रेय मार्ग या सत् मार्ग है, जो ज्ञान से होते हुए सूक्ष्म तक आत्मा की ओर ले जाता है । मनुष्य को यह अधिकार है कि वह जिस मार्ग को चाहे चुन ले । जब हमारा मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के रास्ते बाहर निकल कर संसार के झूठे विषय-वासनाओं में लिप्त होता है तो हम मन से भी नीचे प्राण-मय और और अन्न-मय में गिर जाते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में फँस कर, इस द्वन्द्व प्रधान संसार में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का अनुभव करते हैं । आजकल साधारण मनुष्य मन से भी नीचे गिर गया है । इस शरीर के लिये भोजन-वस्त्र तथा सुख-सुविधा के सामान जुटाने के अतिरिक्त उसे दूसरा कुछ नहीं सूझता । मनुष्य को चाहिए कि कुटुम्ब-परिवार, हित-मित्र के लिये, वह जो कुछ करता है, सच्चाई के रास्ते पर चलकर पूरा करता रहे, लेकिन अपने लिये भी कुछ ऐसी पूँजी जमा करे, जो अन्त में उसे काम आ सके । उसके कर्त्तव्य ऐसे हों कि कम से कम मनुष्य योनि से नीचे न गिरे । शास्त्र बतलाते हैं कि जो व्यक्ति साधन के द्वारा मनोमय में अपनी स्थिति कर लेते हैं,

उसे अपने कर्मानुसार अगले जन्म में भी मनुष्य शरीर मिलता है । यदि मन से भी ऊपर बुद्धि-तत्व की चढ़ाई लें तो वह देवता बन जाता है । इसी तरह मन और बुद्धि आगे आत्म-तत्व पर केन्द्रित करके, वहाँ अपनी स्थिति कर पर उस जीव की संज्ञा 'शिव' हो जाती है । आगे चलकर परमात्मा में लय हो जाता है । वहाँ सदा आनन्द ही अ है । यही अंतिम पद है, 'मुक्ति धाम' है ।

इसलिए सबसे प्रथम मन को नियन्त्रित करना होता अनेक जन्मों में भटककर, संसार की विषय-वासनाओं सम्बन्ध जोड़कर, हमने अपने भीतर हृदय-प्रदेश में संस राशि जमा कर ली है । हमारे संस्कार झूठे सांसारिक सुख हमारी लालसा मन को शान्त नहीं बैठने देती । अतः आवरणों को साफ करके, हमें अपने मन को, चित्त की वृ को शान्त करना होगा । मन को संसार से खींचकर, निज स्थान में केन्द्रित करके आत्मा की ओर लगाना हो इसे ही चित्त की वृत्तियों का निरोध करना कहा जाता है जीव और ईश्वर के मिलन अथवा योग का मूल कहा ग -- 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।' इस इतने काम के लिए ही आदिकाल से कठिन जप-तप करता आ रहा है, घर-प त्याग संन्यासी का बाना पहन कर जंगल और पर्वत भटकता रहा है । रामाश्रम सत्संग की साधना से मन होता है । यह मन के संकल्प-विकल्प तथा चंचलता को करने की सहज क्रिया है । एक महान आत्मा ने हमारी हीन दशा पर दया करके, हमारे उद्धार के लिए, इसका प्र किया है, सत्संग की पावन सुरसरि बहायी है । इसमें घर बार छोड़ने की जरूरत है और न कठोर जप-तप की गुरु महाराज ने बताया कि एक संन्यासी जंगल में रहकर

मन से संसार का चिन्तन करता है तो पतित गृहस्थ है । संसार के सारे दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी मन को उसमें नहीं फँसा कर, आत्मा का चिंतन करने वाला गृहस्थ भी महान् विरक्त हो सकता है ।

लेकिन चंचल मन को रोक सकना साधारण काम नहीं है । वह जल्दी पकड़ में नहीं आता । इसके लिए किसी जानकार और समर्थ पुरुष का सहारा लेना होगा और उनके द्वारा बताई साधना का सहारा लेना होगा और उनके द्वारा बताई साधना का बार-बार अभ्यास करके तथा वैराग्य से मन पर काबू पाना होगा । गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है कि मन चंचल है और कठिनाई से वश में होता है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य से सहज ही में वश में किया जा सकता है -- 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृहयते ।।' (६।६५)

अभ्यास क्या है ? बार-बार मन को खींचकर अपने इष्ट के चरणों में लगाने से वह वश में हो जाता है । जैसे साइकिल सीखने वाला गिरते-उठते बराबर लगे रहने से, अपने कार्य में सफल हो जाता है, उसी तरह गुरु द्वारा बताई विधि से मन को एकाग्र करने का प्रयास बार-बार दुहराना अभ्यास है । वैराग्य कहते हैं -- सांसारिक वस्तुओं से मोह नहीं करने को। मतलब यह नहीं कि सब छोड़-छाड़ कर लँगोटी लगा लें और जंगल में जा बैठें । रहें संसार में, सारे संसारी काम भी करें पर उसमें अपना फँसाव नहीं रखें, यही वैराग्य है । सत्संग की साधना का नियमित रूप से नित्य सुबह शाम पन्द्रह-बीस मिनट तक अभ्यास करने से, चित्त की वृत्तियाँ शान्त और मन उर्ध्दगामी हो, परमात्मा का चिन्तन करने लगता है ।

OO

प्रेम की स्थि

****

परमात्मा हम सबमें है । उन्हीं की शक्ति से हमारा
शरीर कार्य करता है । परमात्मा की ज्योति का प्रादुर्भाव प्र
मस्तिष्क में, ब्रह्मरन्ध्र में होती है । यह सुरति की धार
उतर कर बुद्धि-तत्व, फिर मनस्तत्व होते हुए सब मे
मूलाधार में ठहरती है और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों
प्रवाहित होकर वाह्य कर्म सम्पादित कराती है । अतः
परमात्मा को पकड़ने के लिये कहीं बाहर भटकने की आवश्य
नहीं है । अपने हृदय-प्रदेश में स्थित प्रभु को पकड़ कर,
अपनी तपन-तृष्णा मिटा कर शाश्वत आनन्द प्राप्त कर स
हैं । आत्म-कल्याण का यही सब से सरल मार्ग है । इसके
सुरति की धार को, नीचे मूलाधार से उठाकर, जिस मार्ग
चलकर वह नीचे प्रवाहित हुई है, उन मुकामों अर्थात् मनस
और बुद्धि-तत्व का भेद न करते हुए, महान्-तत्व में
करना पड़ेगा । सभी साधना एक इसी कार्य के लिए ही
हठयोगी हठयोग की क्रिया से, भक्तिमार्गी उपासना के

और ज्ञानयोगी ज्ञानयोग के द्वारा सुरति की धार को ऊपर की ओर उठाते हैं । रामाश्रम सत्संग की साधना भक्तिमार्ग की साधना है, जिसे उपासना या भक्तियोग कहा जाता है । यह साधना मन के क्षेत्र से शुरू होती है । इसमें धारणा, ध्यान और प्रत्याहार के द्वारा मन की शक्ति को एकाग्र करके, महत् तत्व में प्रवेश किया जाता है ।

साधक प्रथम परमात्मा का चिन्तन करता है तो ध्यान में सांसारिक बातें आती हैं, जिससे एकाग्रता में कठिनाई होती है । इस तरह हमारा मन अन्तर में ध्यान नहीं करने देता, वह उसे हटाकर बाहर फेंक देता है । वह हमें परमात्मा के दर्शन से वंचित कर देता है, उनका दीदार नहीं होने देता । तो इसके लिए, हमें पहरे पर बैठे मन रूपी चौकीदार को राजी करना होगा ताकि वह शान्त होकर अन्दर परमात्मा के समीप ले चले ।

जब हम कोई खेल तमाशा देखते हैं या कोई अशुद्ध कर्म-कुकर्म करते हैं तो उसका सूक्ष्म संस्कार, हमारे मन पर अंकित हो जाता है । मन उसे अपनी डायरी में लिख लेता है, जो समय पाकर मन को चलायमान कर देता है । इसी से हमारा मन चंचल बना रहता है । इस मन को साधना के द्वारा शान्त करना होगा, मन पर जमे संस्कारों के धूल-आवरणों को साफ करना होगा, तभी परमात्मा का दर्शन हो सकेगा ।

मन की पाँच अवस्थायें होती हैं, जिसका अनुभव साधकों को, साधना काल में होता है -- क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरोध । सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त रहने के कारण, मन में हमेशा नये-नये विचार, नई लालसायें --

कामनायें उठती रहती हैं, जो मन को चंचल बनाती हैं।
ये वासनायें पूरी नहीं होती तो मन क्षुब्ध और परेशान
उठता है। यह 'क्षिप्त' अवस्था है। यदि लालसायें पूरी
जाती हैं, तो उससे जो क्षणिक सुख की अनुभूति होती है,
'विक्षिप्त' अवस्था कहते हैं। ये दोनों अवस्थायें सांसा
मनुष्यों और साधकों को भी आती रहती हैं। साधना
अभ्यास के द्वारा जब विचारों का उठना बन्द हो जाता है
तो तो अच्छे विचार उठते हैं न बुरे, लाभ-हानि का ध्यान
नहीं रहता तो उसे 'मूढ़' अवस्था कहते हैं। अभ्यास क
करते जब मन गुरु के स्वरूप पर या इष्ट की कल्पित मूर्ति
ठहर जाता है, और साधक को किसी दूसरी बात का ध
नहीं रहता तो उसे 'एकाग्रता' कहते हैं। एकाग्रचित
साधक अपने लक्ष्य पर ध्यान जमाता है तो वह कभी-
इतना तन्मय हो जाता है कि कुछ देर के लिये लक्ष्य भी अ
हो जाता है। यही 'निरोधावस्था' है। इसमें मन और
बिल्कुल खाली हो जाती है, न कोई विचार शेष रहता है
संकल्प-विकल्प, न संस्कार। यहाँ तक उपासना की क्रिया
आगे साधक विवेक क्षेत्र में प्रवेश करता है, जहाँ पहुँचकर,
सांसारिक वस्तुओं का दिग्दर्शन भी प्रभुमय ही होता है।
समय जीव की ऐसी अवस्था होती है कि --

उमा जे राम चरन रत विगत काम, मद मोह।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध ।।

यह स्थिति भक्ति से, प्रेम से, सन्तों की कृपा से
होती है। प्रेम में खिंचकर वह ऊपर उठ जाता है।

हम सब लैला-मजनू की कहानी जानते हैं।
अपनी प्रेयसी लैला को गलियों में उसके नाम की रट ल

पागल की तरह चक्कर काटता । जब बाज बुजुर्गों को, इसकी खबर मिली तो उन्होंने मजनू की परीक्षा लेने का विचार किया । मजनू के एक हाथ में खंजर और दूसरे में कटोरा देकर खून देने को कहा गया । वह लैला को पाने के लिये खून देने को तैयार हो गया । लेकिन मजनू ने ज्योंही खंजर को अपने बदन पर घुमाना चाहा कि बुजुर्गों ने उसे रोक दिया । उसके प्यार को झूठा बताकर, उसे लौटा दिया गया । लैला को समझाया गया कि अभी इसके प्रेम में कमी है । कुछ दिन बाद, मजनू की इश्क-मिजाजी देखकर फिर उसकी परीक्षा ली गई । फिर उसे खंजर और कटोरा देकर, अपने बदन का खून देने को कहा गया । इस बार मजनू खंजर अपने हर अंग पर ले जाता और तुरन्त हटा लेता । उसे अपने अंग-अंग में, रोम-रोम में लैला नजर आ रही थी, जिससे वह खंजर चुभाना नहीं चाहता था । मजनू को प्रेम इश्क-मिजाजी से इश्क-हकीकी में परिणित हो चुका था । उसका जज्बा वही हो गया था, जो एक बार भक्त प्रह्लाद को आया था । जब प्रह्वाद को मारने के लिए, उसके पिता ने तलवार उठायी और कहा -- बता, तेरा भगवान कहाँ है ? तो भक्त ने जबाव दिया था -- 'हम में, तुममें, खड्ग-खम्भ में घट-घट व्यापे राम ।' यह उच्च प्रेम, उच्च विवेक की अवस्था है । इस सत्संग की साधना का अभ्यास, मन की मूढ़ अवस्था को हटाकर, एकाग्रता और निरोध के द्वारा विवेक ही हद में पहुँचा देता है और आत्मा की धार को मूलाधार से उठाकर महत्-तत्व में । सन्तों में वह शक्ति होती है कि क्षण-मात्र में मन की स्थिति को बदल कर, सुरति की धार को ऊपर मोड़ देते हैं । सन्तों की शरणागति जीव के कल्याण का सबसे सरल एवं सुरक्षित उपाय है ।

ताशकन्द की बात है । एक समय बदमाशों का अ
बहुत बढ़ गया था । इससे त्राण पाने का कोई उपाय
देखकर, वहाँ के लोग, एक फकीर की शरण में पहुँचे । उ
अपना दुखड़ा कहा । महात्मा को दया आ गई । एक शाम
महात्मा घूमते हुए, बदमाशों के अड्डे पर जा पहुँचे । उ
बदमाशों को शराब पीने के लिए अपने आश्रम पर आमं
किया । बदमाश अच्छी शराब पीने के लालच में आश्रम
पहुँचे । महात्मा ने उन्हें बताया कि नहा धोकर शराब पीन
ज्यादा असर करती है । बदमाशों ने स्नान किया और पंक्ति
खड़े हो गए । महात्मा ने सबों को आँखें बन्द करके खड़े
का आदेश दिया और खामोश रहने को कहा । जब खाम
छा गई तो उन्होंने प्रभु से इन भूले-भटके लोगों को सद्बुद्धि
की प्रार्थना की । प्रभु अपने प्यारे की बात सुनता है । उ
दुआ कबूल हुई और वे सब, जो बड़े बदमाशों में गिने
थे, आगे चलकर अपने समय के अच्छे फकीर हो गए ।
तरह सत्संग में सहायता के लिए, मार्ग-दर्शन के लिए, कल
के लिए भी श्री गुरुदेव से प्रार्थना की जाती है, आगे उ
मर्जी । कहा गया है --

नाथ जीव तब माया मोहू । सो निस्तरई तुम्हारहि छोहू

सत्य को धारण करें

'जब द्रवहि दीन दयालु राघव साधु संगत पाइहौं ।' प्रभु की जब महान कृपा होती है तब साधु-सन्तों के दर्शन और उनका सत्संग प्राप्त होता है । सत्-पुरुष की संगति को सत्संग कहा गया है । सत् क्या है ? जो सदा एक रस रहे, न कभी परिवर्तित हो और न नष्ट हो, वही सत् है । शास्त्र बतलाते हैं कि एक आत्मा (परमात्मा) को छोड़, सृष्टि के सभी तत्त्व, सभी वस्तुयें परिवर्तनशील और नाशवान हैं । उपनिषद् के अनुसार एक आत्मा ही है, जो न तो जन्म लेता है और न कभी मरता है । वह आत्मा ही सत् है, सत् ही आत्मा या ईश्वर है । जो संत महापुरुष इस अविनाशी ईश्वर के साथ मिलकर एक हो गये हैं, जो आत्म-क्षेत्र में अपनी स्थिति करके आत्ममय हो चुके हैं, उनकी संगति में बैठना सत्संग है । सत्संग से ही हमें वह विवेकदृष्टि मिलती है, जिससे हम सत्-असत् को सही रूप में जान पाते हैं, सत् को देख-पहचान सकते हैं । सत्संग भी उन्हीं की कृपा से सुलभ हो पाता है ।

यह सौभाग्य ही है कि हमें उस परम गुरु की कृपा से सत्संग सबों को मिल रहा है । सन्त तुलसीदास ने क -- 'बिनु सत्संग विवेक न होई । राम कृपा बिनु सुल सोई ।।'

जैसे यह सृष्टि द्वैत से बनी है, उसी तरह हम और आत्मा के मेल से बने हैं । शरीर जड़ है, आत्मा चे जैसे प्रकाश में फिल्म के दृश्य पर्दे पर दीखने वाले प जंगल, नदी सब कुछ सत्य मालूम पड़ते हैं, उसी तरह अ के प्रकाश में यह जड़ और नश्वर संसार, हमारा शरीर सा भासता है, लेकिन यह सत्य है नहीं । एक व्यक्ति जि नाम मोहन है, वह अपना परिचय मोहन कह कर देता परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि वह मोहन है न जाने कितने काल से वह कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि यो में भ्रमता आ रहा है । सत्य यह है कि हम न तो पुरु न स्त्री, न बालक हैं, न युवा और न वृद्ध । हम एक ते चैतन्य हैं, महान् हैं । हमारे ही इशारे पर, हमारी की शक्ति यह जड़-प्रधान शरीर सारा कार्य-कलाप करता है । पर हम रस्सी को सर्प समझने के भ्रम की स्थिति में हैं, इस अपने को शरीर मानकर, संसार की वासनाओं में लिप्त ह संसार के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मिलन-बिछोह की द्वन्द्व अ में फँसे जीवन गुजार रहे हैं ।

यह संसार द्वन्द्वमय है । इसमें कोई ऐसा सुख जिसमें दुःख न हो । सांसारिक वस्तुओं में जो सुख है, वह नहीं, सुख का भ्रम है । उदाहरण स्वरूप, आपने नौकरी से पहले नौकरी में सुख की आशा बाँध रखी थी । जब न हो गई तो उसका सुख, उसका महत्व जाता रहा । जब

इस संसार की वस्तु की प्राप्ति नहीं है तब तक उसमें सुख की प्रतीति है, लेकिन उसकी प्राप्ति हो जाने पर उसमें दुःख ही दुःख पता चलने लगता है । अतः सांसारिक सुख क्षणिक है, मृग-तृष्णा के समान है । परन्तु एक ऐसी जगह है, जहाँ सुख ही सुख है, परमानन्द है । वही हमारा निज-स्थान है, जहाँ से हटकर हम वियोग में पड़ गए हैं । जब हम इस चिरन्तन सत्य को जान पायेंगे तब अपनी निज स्थिति में पहुँच कर परम प्रसन्नता को प्राप्त करेंगे, आनन्द-सरोवर में डूब जायेंगे । अपने मौलिक आनन्द की स्थिति में जाने के लिए हमें प्रकृति तत्व को छोड़ना पड़ेगा और आत्मा से योग करना पड़ेगा । यह सत् का मार्ग है ।

आप एक शीशे में अपना स्वरूप देखते हैं । यदि आप उस शीशे में दीखने वाले स्वरूप को पकड़ना चाहें तो क्या करेंगे ? आप लाख हाथ-पैर पीटें तो भी वह प्रतिबिम्ब पकड़ में नहीं आने को । परन्तु, यदि गुरुदेव की दया से आपको यह ज्ञान हो जाए कि अपने स्वरूप को पकड़ने से आपका शीशे में प्रतिबिम्बित स्वरूप भी स्वयं पकड़ में आ जायेगा, तो यह सम्भव हो सकता है । उसी तरह जिस परमात्मा के कारण यह संसार सत्य सा भास रहा है, उस परमात्मा को पकड़िये, जिस आनन्दस्वरूप आत्मा के कारण संसार का दुःख भी, सुख का भ्रम पैदा कर रहा है, उस आत्मा को पकड़िये । जब तक आप संसार से चिपके रहेंगे, दीन-हीन बने रहेंगे संसार की समस्त भोग-सामग्रियाँ, सवारी, गाड़ी, ऐश्वर्य, पद सिर्फ सुख की मृग-मरीचिका पैदा करेंगे, लेकिन वे पकड़ में आयेंगे नहीं । लेकिन जो माया रूपी शीशे में, संसार के रूप में भासने वाले परमात्मा है, उन परम कृपालु को पकड़ने से संसार भी आपका हो

जायेगा । संसार के कर्त्ता को वरण करने से संसार तो ही जायेगा । आप विष्णु को प्रसन्न कर लीजिये फिर लक्ष्मी उनके साथ ही रहती है, वह स्वयं ही आ जायेगी । बिना को प्रसन्न किये लक्ष्मी कैसे आ सकती है ? कहा है --

जब ये दिल दुनिये को था, दुश्मन हजारों के रहे
जब ये दिल तुमको दिया, हर दिल के तारे बन गये

एक कथा है कि एक राजा था । उसके पुण्य एवं पर से दूर-दूर तक उसकी कीर्ति फैल चुकी थी । उसके सद्व्यव से, उसके राज्य में धन-धान्य की कमी नहीं थी तथा प्रजा खुशहाल थी । उस राज्य में एक हाट लगती थी । बाजार यह नियम था कि वहाँ बेचने के लिये लायी गई, जो वस्तु बिकती, उसे राजा मुँह-माँगा मूल्य देकर खरीद लेता थ इसकी वजह से देश-विदेश के व्यापारी अपनी सामग्री ल आते और मालामाल होकर लौटते । राजा की ख्याति सु एक ईर्ष्यालु व्यक्ति उनके विनाश का उपाय सोचने लगा । तपस्या करके भगवान शंकर को प्रसन्न किया और शनि मूर्ति प्राप्त की । शनि ग्रह का निवास बर्बादी का कारण जाता है । उस व्यक्ति ने सोचा कि यदि शनि ग्रह को राजम तक पहुँचा दिया जाये तो राजा का विनाश अवश्यम्भावी जायेगा । इसी योजना से वह शनि की मूर्ति हाट में पहुँचा । हाट के नियम के अनुसार यदि राजा मूर्ति खरीद तो शनि ग्रह के प्रभाव से उनका नाश होगा, और यदि वश राजा नहीं खरीदते तो सत्य-भ्रष्ट होकर विनाश को होंगे और उनकी ख्याति धूल में मिल जायेगी ।

हाट में वह मूर्ति नहीं बिकी । भला, जान बूझकर

कौन मोल लेता ? अष्ट धातु की बनी होने के कारण उस मूर्ति का मूल्य भी कम नहीं था । बचे-खुचे सामानों को खरीदने, राजा के कर्मचारी पहुँचे । उस मूर्ति के सम्बन्ध में जब जानकारी मिली तो राजा से सम्मति माँगी गयी । सत्यव्रती राजा अपनी प्रतिज्ञा से कब डिगने वाला था । मुँह माँगा मूल्य देकर मूर्ति राजमहल में लायी गई ।

अब राजमहल में कुचक्र शुरू हो गये । कुछ काल बाद राजा के शरीर से एक दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति निकली और सामने खड़ी हो गई । राजा ने पूछा -- आप कौन हैं ? उस मूर्ति ने कहा -- मैं आपकी लक्ष्मी हूँ । अब तक आपके सद्-आचरण के कारण मुझे खुशी रही, पर शनि के प्रवेश के कारण, मैं यहाँ नहीं रह सकती क्योंकि जहाँ शनि देव निवास करते हैं, वहाँ दरिद्रता वास करती है । राजा ने राज्य-लक्ष्मी का अभिवादन किया और उन्हें जाने की अनुमति् दे दी । राज्य-लक्ष्मी के विदा होते ही राज्य से धन-धान्य गायब हो गया । कुछ दिन बाद राजा के शरीर से फिर एक प्रकाश प्रकट हुआ । राजा ने पूछा -- आप कौन हैं ? उत्तर मिला -- मैं धर्म हूँ । अब मैं भी जा रहा हूँ, क्योंकि जहाँ लक्ष्मी है वहीं मैं रहता हूँ । बिना धन के धर्म नहीं होता । राजा ने नमस्कार कर धर्म को विदा किया । अब राज्य में झूठ, मक्कारी, धोखा-फरेब का बोलवाला हो गया । फिर राजा के शरीर से एक और दिव्य-प्रकाश निकला । पूछने पर उत्तर मिला -- मैं सत्य हूँ, क्योंकि जहाँ धर्म है वहीं सत्य रहता है । उसने भी जाने की इच्छा व्यक्त की । पर राजा ने कहा -- हे सत्य देव ! सत्य का पालन करने में ही आज मेरी और प्रजा की यह दुर्दशा हो गई है फिर भी मैंने सत्य-व्रत को नहीं छोड़ा । मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ पर आपको नहीं छोड़

सकता । और सत्य को विवश होकर राजा के हृदय में
करना पड़ा ।

राज्य-लक्ष्मी और धर्म, दोनों राज्य से बाहर निक
सत्य की प्रतीक्षा कर रहे थे । सत्य के न आने पर उन्हें
होकर लौटना ही पड़ा । तत्पश्चात् राज्य में सुख-समृद्धि,
चैन लौट आया । कहा है --

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप ॥

इसी सत्य को धारण करना योग है । यह सत्य-
परमात्मा तो सबके हृदय में हैं । उसे ढूँढ़ने के लिये कहीं
की जरूरत नहीं । पर्दा हटाइये, उसके दर्शन मिलेंगे ।
अपने हृदय-प्रदेश में संस्कारों की धूल भर कर अन्धका
आवरण बना लिया है, जिससे वह सत्य का प्रकाश,
ओझल हो गया है । संस्कार रूपी इस मल-आवरण को
होगा तब उस प्रकाश से हम चकाचौंध हो जायेंगे ।

हमारा सिद्धान्त

(प्रवचन पूज्य गुरुदेव)

****

☆

प्यारे भ्राताओ और भगनियो !

उस जगद् नियंता परम पिता परमात्मा को कोटिशः न्यवाद है कि जिसके असीम अनुग्रह से वर्ष भर के बाद हम सब अपने व दूसरों के धार्मिक लाभ के लिये फिर इस स्थान र एकत्रित हो सके हैं । आशा नहीं थी कि इस साल हम अपना वार्षिकोत्सव कर सकेंगे । शरीर की रुग्णता तथा नाभाव ने हमारी हिम्मत तोड़ दी थी परन्तु आप लोगों के ाहस ने तथा आपकी प्रबल इच्छाओं ने मेरे अन्दर जीवन सञ्चालन कर दिया । मुझ में बल आ गया और मैं अपने परम ूज्य गुरुदेव का आसरा ले भण्डारा करने पर उतारू हो गया।

अच्छा तो नहीं था कि भण्डारा बन्द हो, क्योंकि अव्वल ो इसकी बुनियाद श्री महात्मा जी महाराज (गुरुदेव) के रकमलों से पड़ी थी । यह भी उनकी यादगार का एक काम , हम लोगों को काम करते हुए देख उनकी आत्मा प्रसन्न होती ोगी, सन्तुष्ट होती होगी । वह कैवल्य धाम की निवासी सही,

परन्तु जीवों के कल्याण के हेतु जो कार्य किये जाते हैं उन
देख के मोक्षात्मा भी खुश होती हैं और ऐसे कामों के क
वाले मनुष्यों को अपने स्वाभावानुकूल सहायता पहुँचाती
उनको ऊपर उठाती हैं उनके लिये स्वर्ग का द्वार खोल देती
और अपने निजधाम में खींच के बुला लेती हैं ।

यादगार का सवाल भी दूर जाने दीजिये, केवल
बात पर थोड़ा गौर कीजिये कि इस प्रकार के जल्सों से
लोगों को कितना आत्मिक लाभ पहुँचता है कि जो उ
शरीक होते हैं । जो सज्जन पिछले उत्सवों में सम्मिलित ह
रहे हैं क्या उनका अनुभव ऐसा नहीं है कि यहाँ आकर दो
तीन दिन में ही इतनी रूहानी तरक्की वह कर सके थे जिस
वर्ष भर में अथवा कई महीनों के परिश्रम से भी नहीं कर
ते और यहाँ से वापिसी पर वह एक नई रूहानी जिन्दगी ले
लौटे थे । बस ! यही प्रत्यक्ष प्रमाण हमको मजूब कर देता
कि वर्ष भर में एक बेर तो अवश्य ही इस प्रकार का
सम्मेलन करें और उसमें पहुँच कर परस्पर प्रेम भाव से
दूसरे से मिलें, आपस में अपने ख्यालात (भावों) का दबा
करें । आगामी वर्ष के लिये अपने जीवन का प्रोग्राम बनाये
पिछली वर्ष के सबक में जो कुछ भूल-चूक हम से हो गई
उसको अपने रूहानी मास्टरों से पूछें । पिछला सुना कर
आगे के लिये पाठ लें, जिन अपनी त्रुटियों को अब तक
दूर नहीं कर सके हैं उनको अपने से हटाने के लिये प्रण
यह दूसरा कारण है कि जिसके लिये इस प्रकार के रू
जल्से करना प्रत्येक सुसाइटी को लाजिमी हो जाते हैं ।

धन

इस प्रकार के उत्सवों में जहाँ तक हो सके सादगी ही बरती जानी चाहिये । राजसी ठाठों से रजोगुण प्रधान होकर वातावरण को बिगाड़ देता है । सतोगुणी स्वभाव रखने के लिए सादा भोजन तथा सादा रहन-सहन ही लाभकारी होता है । हमको अपने अन्दर से रजोगुण और तमोगुण को हटा के सतोगुण को बिठालना है इसलिये आवश्यकता है इस बात की कि हमारे जल्से भी सात्विकी हों । सादगी में विशेष खर्चा भी नहीं होता, जो कुछ होता है वह केवल दो बातों में कि बाहर से पधारने वाले मेहमानों के लिये भोजन ठीक-ठीक मिले और उनके ठहरने के लिये मकान तथा रोशनी, पानी का इन्तजाम ठीक हो ताकि उनको किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे । इस थोड़े से प्रबन्ध के लिये धन की आवश्यकता पड़ जाती है । हाँ ! यदि यह सब लोग अपना प्रबन्ध स्वयं कर लें, बाजार से लेकर खाना खायें और सराय व धर्मशालाओं में ठहरें तो फिर प्रबन्धकर्ताओं को धन की भी जरूरत नहीं रहती और न उनके ऊपर कोई बोझ रहता है, परन्तु यह शैली न तो हमको पसन्द है और न हमारे श्री पूज्य गुरुदेव को पसन्द थी । इससे सुसाइटी को एक बहुत बड़ी हानि पहुँचने की सम्भावना है और यह भी सम्भव है कि ऐसा करते ही हम लोगों में से रूहानियत ही न कहीं गायब हो जाये ।

क्यों ?

इसलिये कि ऐसा करने पर प्रेम हमारे यहाँ से रुख्सत हो जायेगा । प्रेम आकर्षण है, प्रेम संगठन है, प्रेम जीवन है, प्रेम हर्ष और शान्ति का मार्ग है और प्रेम ईश्वर के साक्षात् करने का साधन है । जहाँ प्रेम नहीं वहाँ कुछ नहीं । हमारे

यहाँ का प्रधान साधन प्रेम है। गुरु की आज्ञा है -- प्रेम करो, ऐसा कि जैसा तुम अपने से करते हो, अपने स्त्री और बच्चों से करते हो वैसा ही गैरों से करो। उनसे कहा करो कि जिनको तुम अभी तक अपना नहीं समझते थे। उन सबको अपना बनाओ और तुम उनके हो जाओ। जिस दिन विश्व तुमको अपना दिखाई देने लगेगा उसी दिन भगवान् अपने मन्दिर के किवाड़ खोल तुम्हारे सम्मुख आके खड़े हो जायेंगे।

हम प्रेम मार्ग के मुसाफिर हैं। प्रेम का साधन करते हैं। प्रेम की रस्सी के सहारे ऊपर को चढ़ते हैं, यदि यह ही डोरी हमारे हाथ से छूट गई तो फिर हमारे पास क्या रहा ? हम और आप सब ही इसी रस्से को थामे लटके हुए हैं। रस्सा ऊपर खिंच रहा है, हम में जो लोग पहिले आ गये थे वह ऊँचे उठ गये हैं शेष अपने-अपने स्थानों पर लटक रहे हैं। साधकों के लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है उनको साधन करने के समय प्रत्यक्ष अनुभव होता होगा कि वह किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा धीरे-धीरे खिंच रहे हैं। उनके स्थूल शरीर का बोझ उन पर से हल्का हो रहा है। वह स्थूल से सूक्ष्म होते जा रहे हैं, उनमें आनन्द और शांति की लहरें थपेड़ा मार रही हैं। प्रसन्नता बढ़ती जा रही है और उनके अन्दर से परेशानी व अशांति, जो घोंसला बनाये मुद्दत से बैठी थी वह एक दम भाग रही है।

विशेषता

हमारे सत्संग में कुछ ऐसे लोग भी शरीक हैं जिनको मुद्दतों से इस परम निधि की तलाश थी। उन्होंने इसकी प्राप्ति की खोज की। कई साधु-महात्माओं से मार्ग पूछ के उस प

चले, कई अन्य सम्प्रदायों तथा मतों में शरीक होकर उनके यहाँ के साधनों में समय दिया, वह लोग अपने सीने पर हाथ रख के विचार करें कि जो आनन्द और उन्नति उनको इस सत्संग के द्वारा थोड़े ही दिनों में सुगमता से प्राप्त हुई है वह वहाँ पर उनको नसीब थी या नहीं । हमारा अपना अनुभव तो यह है कि जो बात हमको बिना परिश्रम के इस गृहस्थी के जंजाल में फँसे हुए और आराम-तलबी की जिन्दगी बसर करते हुए यहाँ मिली वह इससे पूर्व कई साधुओं की बताई हुई क्रियाओं के करने से भी नहीं प्राप्त हुई । इसका एक कारण था ।

कारण

और वह कारण था कि हमारे समर्थ सद्‌गुरु ने प्रथम दिवस ही प्रेम रूपी रस्से का फन्दा हमारे गले में डाल दिया था। इस रस्से में एक ऐसा अद्‌भुत आकर्षण (जज़्बा) था कि जिसने एकदम हमको ऊपर खींच लिया और हम प्रेमसागर के अमृतमय जल में डुबकियाँ लगाने लगे । तपन मिट गई और शीतल शांति सारे शरीर में ही नहीं वरन् मन और आत्मा में भी छा गई । बस, बात आपकी समझ में आ गई होगी कि यहाँ के प्रत्येक साधन में जज़्बा अर्थात् प्रेम शक्ति अथवा आकर्षण शक्ति का प्राधान्य रहता है दूसरी क्रियाओं को जैसे, जप, ध्यान, शब्द अभ्यास इत्यादि कराते हैं परन्तु उनका दर्जा नीचे रहता है अन्य मतों में क्रियाओं को जिसको सूफियों की जुबान में सुलूक कहते हैं प्रधानता रहती है । क्रमशः अभ्यास करते हुए और चढ़ाई करते हुए जब प्रेम के स्थान आनन्दमय कोश में अपने को प्रवेश कर पाते हैं तब इस आकर्षण शक्ति का दर्शन उनको मिल पाता है परन्तु वहाँ के पहुँचने तक

उनको बीसियों वर्ष ही नहीं लग जाते बल्कि कई के तो जीवन व्यतीत हो जाते हैं और वह इसी लालसा को लिए हुए इस संसार से चल बसते हैं । सम्भव है कि शास्त्रों की थ्यौरी के बमूजिब वह अपना काम दूसरे जन्मों में पूरा करते होंगे । परन्तु इसको कौन जाने कि फिर भी कितना समय उसका नष्ट होगा । यह विशेषता और सुगमता केवल इस सत्संग के ही साधनों में पाई जाती है और यह सब हमारे श्री गुरुदेव की ईजाद है कि जिसको उन्होंने अपने निजी अनुभव से देश-काल और वस्तु पर विचार करते हुये अपनी निज दया से हम सबको उपदेश किया और उसका प्रत्यक्ष लाभ भी दिखा दिया ।

समय बदल गया, आयु घट गई, फुरसतें जाती रही, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया, निर्बलता आ गई, घी-दूध इत्यादि लाभदायक पदार्थ सेवन करने को नहीं, केवल दर्शन मात्र को रह गये, ऐसे कठिन समय में प्राणियों को गुजरते हुए देख एक मोक्षात्मा को दया आई, उसने हमारे कल्याण के हेतु नर शरीर धारण करने का कष्ट उठाया और हम सबको वह मार्ग दिखाया कि जो संसार से लुप्त हो चुका था सहस्रों वर्षों से उसका रिवाज मिट चुका था, और पृथ्वी पर उसके जानने वाले नहीं रहे थे ।

मेरे प्यारे साधको ! आप सब पढ़े-लिखे हैं, आप में से अनेकों ने जीवन में कई बार गीता का पाठ किया होगा । उसमें एक प्रसंग है कि जिसमें भगवान् कृष्ण-अर्जुन से कह रहे हैं --

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ इत्यादि

जिसके अर्थ यह हैं कि हे अर्जुन ! आज जिस योग को मैं तुम्हें बता रहा हूँ वह किसी जमाने में मैंने सूर्य्य को बताया था। सूर्य्य से राजा मनु ने इसको सीखा और उससे राजा इक्ष्वाकु ने इसको जाना। इक्ष्वाकु से और दूसरे राज-ऋषियों ने इसको प्राप्त किया परन्तु समय के प्रभाव से यह विद्या पृथ्वी से उठ गई थी, तुमको अधिकारी जान आज मैं फिर उसी परम पवित्र राजयोग का तुम्हें उपदेश करता हूँ।

यह परम श्रेष्ठ रहस्यमय राजयोग कौन-सा था ? क्या बीच के काल के ब्राह्मण व ऋषि-महर्षि उसको नहीं जानते थे ? और आज विरक्तों की मण्डली अथवा मत व सम्प्रदाय के महन्त इसको भूल बैठे हैं ? उत्तर में कहना पड़ेगा कि -- हाँ ! भूल बैठे हैं -- नहीं जानते। इन सबके यहाँ वाणी द्वारा क्रिया बताने का रिवाज है। वह आपको साधन बता देंगे। बहुत ही कृपा की तो दो-एक बार अपने सम्मुख करा के दिखा देंगे फिर वह कह देंगे कि अब अपने आप करो। इन सबके यहाँ इतना ही दस्तूर है। इनसे अभ्यासियों को चाहे कितनी ही उन्नति क्यों न हो जाय परन्तु उनका एक नुक्स उनके साथ अन्त तक रहता है। उस नुक्स का नाम है -- 'कर्त्तापन का अभिमान'। यह अभिमान तथा मिथ्या अहंकार उनका पीछा जीवन की अन्तिम घड़ी तक नहीं छोड़ता। सूक्ष्म होता जाता है, समझ में नहीं आता परन्तु रहता है। यदि आप लोग गहरी दृष्टि से उनके आचार्यों में देखेंगे तो किसी न किसी रूप में अवश्य पायेंगे। इस उनके कर्त्तापन के अहंकार का यह परिणाम हो सकता है कि वह किसी हद तक अपने अंतिम आदर्श से नीचे रहें और माया का झीना बन्धन अपने ऊपर से न हटा सकें।

गीता उपदेश देती है कि यदि तुमको अंतिम पद की लालसा हो तो अपने अन्दर से कर्त्तापन की बुद्धि को दूर हटाओ, और द्रष्टा बन के संसार में विचरो तथा सभी व्यवहार करो, फिर न तो कर्म तुमको लगेंगे और न उसका फल तुमको भोगना पड़ेगा । तुम पिछले संचित और प्रारब्ध कर्मों को भोग के इस दुःख सागर से मुक्त हो जाओगे ।

यदि हम गीता के इन वाक्यों पर विश्वास ले आयें तो फिर हमको तलाश होगी इस बात की कि जितनी जल्दी हो सके हम द्रष्टा हो जायें, कर्त्ता न रहें । इसका प्रबन्ध तुमको हमारे यहाँ ही मिलेगा, दूसरी जगह देखने को भी नसीब नहीं होगा । इसका तजुर्बा आप खुद करके देख सकते हैं ।

हमारी शैली

हमारे यहाँ साधकों से न तो कोई कर्म कराया जाता है न किसी प्रकार की मिहनत ली जाती है, केवल सिखाने वाले अपने मास्टर (जिसको आप चाहे तो गुरु कहलें या कुछ कह लें) का आसरा ले चुपचाप खामोशी से एकांत में बैठ के अपने मन की गतियों को देखना होता है और इसी का अभ्यास करना होता है । हम किस अवस्था से गुजर रहे हैं, हम ऊँचे चढ़ गये हैं व नीचे हैं हमारी कितनी उन्नति हो गई है इसकी साधकों को कुछ खबर नहीं होती । इसका लाभ यह होता है कि न तो उनमें अहंकार बढ़ता है और न कर्त्तापन का अभिमान आता है । उनकी इस अभ्यास-काल की अवस्था में गुरु कर्त्ता रहता है और साधक द्रष्टा रहता है । गुरु अपने आत्मबल से साधकों को ऊपर उठाता है, उनको भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुभव कराता है और अंत में जाकर व

बिठाल देता है कि जहाँ से न तो नीचे गिरने का भय रहता है और न वहाँ कोई शक व शुबह है । पूर्ण ज्ञान है, यथार्थ अनुभव है । यही गीता की 'परा भक्ति' है । यही उपनिषदों की 'परा विद्या' है कि जिसका प्रचार हमारे समर्थ गुरु श्री महात्मा जी महाराज ने इस घोर कलिकाल में करने का विचार किया ।

हम यह नहीं कहते कि हम किसी से कर्म नहीं कराते या खुद नहीं करते । ऐसा नहीं है जो जिज्ञासु इस गहन फिलासफी पर आरूढ़ नहीं हो सकते, जिनकी स्थूल बुद्धि इस सूक्ष्म साधन को नहीं समझ सकती तथा जिनके मन किसी प्रकार भी ऊँचे उठकर एक दम उन स्थानों में नहीं पहुँच सकते कि जहाँ पर यह साधन कराये जाते हैं, उन ऐसे लोगों से कर्म भी कराते हैं । प्रत्येक जिज्ञासु के लिये एक ही कर्म नहीं होता उसकी अन्तरीय अवस्था पर विचार करके गुरु उसके लिये साधन तजवीज करता है और उस साधन के द्वारा साधक में ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म भुवनों में चढ़ने की योग्यता पैदा करता है । जब वह इस योग्य हो जाता है तब से ही उसे भी द्रष्टा बना दिया जाता है ।

ईश्वर के मानने वालों में ईश्वर की प्राप्ति के लिये जितनी भी क्रियायें आज प्रचलित हैं हम उनमें से किसी को गलत नहीं समझते । भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के लिये यह सब भिन्न-भिन्न साधन हैं । यह हमारे यहाँ की आजाद ख्याली है । किसी विचार का मनुष्य, किसी साधन का करने वाला जिज्ञासु हमारे यहाँ सत्संग में शरीक हो आत्मिक लाभ उठा सकता है । यहाँ पर जितने लोग इस समय मौजूद हैं उनमें से

कोई शब्द योगी होंगे, कोई प्राणायामी होंगे, कोई जप योगी, कोई ध्यान योगी, कोई साकार-उपासक, कोई निराकार उपासक इत्यादि । यह सब कर्म हैं । कर्म सबके अलग-अलग होने चाहिये । हमारे यहाँ कर्म कराते हैं -- परन्तु सारी आयु कर्मों में ही फँसा कर उसको कर्त्ता नहीं रखना चाहते उसे द्रष्टा बनाने के स्थान पर खींच लाते हैं और यहाँ से हमारे मुख्य साधन का आरम्भ होता है ।

परा और अपरा

मुण्डकोपनिषद् लिखती है कि एक समय शौनक ऋषि ने अंगिरा ऋषि से पूछा था कि हे भगवान् ! किसके जानने पर यह सब जाना जाता है ? तब महर्षि अंगिरा उसके प्रति बोले कि -- हे पुत्र ! ब्रह्मवेत्ता महापुरुषों का मत ऐसा है कि जगत में जहाँ तक जानने की विद्यायें हैं वह दो ही हैं । एक को 'अपरा' कहते हैं और दूसरी को 'परा' ।

शौनक ने कहा -- महाराज इसकी थोड़ी व्याख्या कर दीजिये कि अपरा किसको कहते हैं और परा किसका नाम है तब अंगिरा कहने लगे --

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्प व्याकरणं निरुक्तं, छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

कि हे ऋषि पुत्र ! जो बात लिखी जा सकती है और वाणी से वर्णन की जा सकती है उसको तुम -- 'अपरा' विद्या जानो । चारों वेद, और वेदों के अंग -- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष यह सब 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत

हैं । इन सबके पढ़ लेने पर अपरोक्ष व बाहरी ज्ञान हो जाता है परन्तु जिस विद्या द्वारा वह सदा एक रस रहने वाला अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है उसका साक्षात्कार किया जाता है उन अंतरंग साधनों को ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं से सीखना 'परा विद्या' कहलाती है ।

इस परा विद्या का पाठ न तो वाणी द्वारा दिया जा सकता है और न लेखनी द्वारा । उसको तो गुरु लोग शिष्यों को सम्मुख बिठा के अपनी आत्मा से उसकी आत्मा में पहुँचाते हैं । इसीलिये इस विद्या को आध्यात्मिक विद्या अर्थात् इल्म रूहानी कहते हैं । क्योंकि जुबान से नहीं रूह से रूह को उसे सिखाते हैं और बिना कुछ मुख से कहे हुए बराबर सबक देते हुए विद्यार्थी को आगे ले जाते हैं । यहाँ तक कि उसको सबसे ऊँची हाईक्लास की डिग्री दिलवा देते हैं ।

यह एक आश्चर्यकारी बात ऐसी है कि जिसको यदि हम किसी बड़े से बड़े विद्वान अथवा वर्तमान युग के बड़े से बड़े महात्मा के सम्मुख वर्णन करने लगें तो वह हमको झूँठा बतायेगा और यही कहेगा कि बिना बताए दूसरा मनुष्य साधन कैसे कर सकेगा, उसको बिना समझाये कैसे बोध होगा ? तात्पर्य यह कि वह हमारी इस बात को हरगिज मानने को तैयार नहीं होगा । क्यों ? इसलिये कि उसको इस प्रकार की शिक्षा ही नहीं मिली है । उसने कर्म करते हुए कठिन परिश्रमों से यह ज्ञान प्राप्त किया है, वह अब तक बराबर कर्त्ता रहा है । उसने गुरु के मुख से क्रियाओं को सुनकर सीखा है, इस द्रष्टा योग को वह विचारा क्या जाने । उसके लिये तो यह एक असम्भव बात है कि बिना कुछ बताये आत्म विद्या की शिक्षा दी जा सके ।

परन्तु प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? आप सब जान चुके कि जैसा हमने वर्णन किया है उसी प्रकार यहाँ की प्रणाली या नहीं । और इन साधनों से आपके अन्दर कोई तबादिल हुआ है या नहीं । यदि हुआ है तब तो हमको पूर्ण रूप से य मानना पड़ेगा कि यह तरीका वही है कि जिसकी निस्बत कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि सूक्ष्म होने के कारण यह विद्या बीच बीच में लुप्त हो जाती है । कृष्ण और अर्जुन के पश्चा सम्भव है कि बहुत काल तक इसका प्रचार रहा हो प आजकल तो इसका नामोनिशान भी बाकी नहीं रहा था । इस के उद्धार के हेतु मोक्ष देश से एक दिव्य आत्मा उतरी औ उसने फिर से हम लोगों के कान में रूह फूँकी और एक सर और सुगम लाभकारी रास्ता दिखाया ।

हम लोग उनके अनुयायी बने, परन्तु पात्र नहीं अधिकारी नहीं थे इसलिये हम में से पूर्ण रूप से कोई उन इस विद्या को न ले सका । उस महान् सागर में से कोई ए घड़ा भर ले गया, कोई लोटा भर सन्तुष्ट हो बैठा और को कोई एक छोटे से ग्लास और प्यालियों पर ही मगन हो नाच लगे । इसीलिये ही तो शोक भरे हुए उनके अंतिम शब्द थे 'मुझे कोई पात्र नहीं मिला और मैं अपने इस इल्म को स ही लिये लौट रहा हूँ ।' यह शब्द हमको क्या सूचना दे रहे क्या इस बात को साफ-साफ खुले लफ्जों में नहीं बता रहे हम सब सहस्रों आदमियों में से कोई पूर्ण अधिकारी नहीं थ हम पात्र नहीं थे उन्होंने जबरदस्ती अनाधिकारी जानते हुए हमारे दिमाग में इस रूहानी इल्म को ठूँसा और थोड़े समय ही हमको कुछ का कुछ बना दिया । और आज जो कुछ उनका कार्य है आपके सम्मुख है ।

लेकिन यह काम समर्थ सद्गुरु ही करने की सामर्थ्य रखते हैं हम तो उनको ही सिखा सकते हैं जो पात्र बन के सम्मुख आयेगा । हमारा दीपक जला हुआ है यदि तुम अपना दीपक जलाने की फिक्र में हो तो तेल बत्ती का प्रबन्ध कर लाओ उस समय तुमको लाभ पहुँचेगा । तुम्हारे दीपक की बत्ती हमारे दीपक की बत्ती से छूते ही रोशन हो जायगी और वह तुमको ही प्रकाश दे आराम नहीं पहुँचायेगी बल्कि तुम्हारे आस-पास के सारे वायु मण्डल को प्रकाशित कर देगी और उससे सब ही लाभ उठा सकेंगे ।

नाम

हमने अपने यहाँ की थ्योरी को संक्षेप में आपके सम्मुख रक्खा है, इसका नाम आप चाहे कुछ रख लीजिए । चूँकि इस साधन में पूर्ण रूप से गुरु के ऊपर ही निर्भर रहना होता है इसलिये इसको शास्त्रों की भाषा में 'समर्पण योग' कह सकते हैं । और चूँकि इन साधनों में जज्ब अर्थात प्रेम की प्रधानता रहती है इसलिये इसका नाम 'प्रेम योग' भी हो सकता है, परन्तु भक्तिमार्गी वैष्णव सम्प्रदाय के प्रेम योग में और यहाँ के प्रेम योग में बहुत बड़ा अन्तर है । वह अपने इष्ट के साथ पिता-पुत्र, सख्य, दास व पति इत्यादि भावों को लेकर प्रेम करते हैं, हमारे यहाँ यह कुछ नहीं किया जाता । हमको तो यह मालूम देता है कि संसार को छोड़ के हम उसकी ओर खिंच रहे हैं, कभी तो अपने अन्दर यह आकर्षण धीमा और कभी बड़ा ही तेजी से काम करता हुआ नजर आता है, कभी-कभी अकारण ही रोने को जी चाहता है, उसके समीप पहुँचने के लिये दिल छटपटाता है, तड़पता है इसलिये हम कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का 'प्रेम योग' है । गीता के वाक्यों में

इसको -- 'सम योग' भी कह सकते हैं क्योंकि इस शैली व्यवहार के साथ-साथ परमार्थ की कमाई की जाती है कर्त्तापन के साथ-साथ अकर्त्ता रहने का उपदेश दिया जाता है यहाँ कर्मों के फल को प्रत्येक अभ्यासी नित्य-प्रति समर्प करता जाता है, अपने लिये नहीं रखता और लोक-परलो तथा स्वर्ग-मोक्ष की चाहना रखता है इस कारण से इस 'निष्काम योग' भी कहा जा सकता है । और चूँकि यहाँ साधनों को ध्यान से शुरू किया जाता है, और ध्यान ही अ तक रहता है इसलिये इसको 'ध्यान योग' भी कहने लगें बेजा न होगा । हम इसका क्या नाम रक्खें हमारी समझ नहीं आता ।

मिलौनी

अब तक जो कुछ तजुर्बा हुआ है उससे हम इस नती पर पहुँचे हैं कि यह एक ऐसा मिक्सचर अर्थात् मिलौनी है जिसमें कर्म, उपासना, ज्ञान तथा योग, भक्ति और प्रेम सब का असर थोड़ा-थोड़ा मौजूद है । योग और ज्ञान (वेदान्त) मार्ग एक प्रकार का खुश्क रेगिस्तान है कि जिसमें प्रेम रस कोई चश्मा नहीं दिखायी देता । यह लोग अपने पुरुषार्थ बल पर वहाँ पहुँच कर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके यहाँ भगवान् का आसरा लेना अच्छा नहीं समझा ज और न इसका रिवाज है । भक्तिमार्गी योगियों और वेदान्ति को नीचा बतलाते हैं । इन लोगों में द्वैत उपासना के द्व विष्णुलोक तक पहुँच जाना तथा अपने द्वैत भाव को त्यागना ही सबसे ऊँचा तथा अन्तिम पद है । आगे के स्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये न तो इन्हें चाहना ही होती और न कोशिश करते हैं । इनके लिये जो कुछ है वही है

वेदान्ती कहते हैं -- यह पद नीचा और माया के अन्दर है, यह मिथ्या भ्रम है । तत्व ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और वहम का पर्दा हटाकर ब्रह्ममय बन जाना चाहिए । इस प्रकार के सम्प्रदायी झगड़े हमेशा चला करते हैं । हमारे यहाँ इन सबको मिलाकर एक कर दिया है -- योग भी हो, भक्ति भी साथ-साथ रहे और ज्ञान भी यथार्थ होता चले । इसलिए कह सकते हैं कि यह एक नवीन मिलौनी है ।

साकार और निराकार

साकार वादियों और निराकार वादियों के झगड़े नित्य प्रति होते हुए देखे जाते हैं । आज तक कोई निर्णय नहीं कर सका कि इनमें से कौन सच्चा और कौन झूठा है । यह दोनों ही गिरोह गीता को अपनी धर्म पुस्तक मानते हैं और वह साफ लिख रही है --

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।

अर्थात् -- जो-जो वस्तु विभूतिशाली, शोभा सम्पन्न और बलयुक्त देख पड़े उनको मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझो ।

इस ज्ञान को देते समय भगवान कृष्ण जज्बे की हालत में थे । उनको अपना होश नहीं रहा था, वह अपने को ब्रह्म समझ रहे थे, ब्रह्ममय हो गये थे । यह एक योगियों की दशा होती है कि जिसमें वह अपने को यही समझने लगता है । इस अवस्था में ब्रह्म की सम्पूर्ण शक्तियों पर उसका अधिकार होता है और साक्षात् ब्रह्म ही होता है । कृष्ण की उस वक्त यही अवस्था थी तभी तो प्रत्येक शब्द में उन्होंने अपने को ब्रह्म

सम्बोधन किया है । जब इस बात को हम जान जाते हैं
तो सम्पूर्ण गीता का उपदेश कृष्ण का नहीं रहता, ब्रह्म का
जाता है । अब समझो कि ब्रह्म कहता है कि -- यदि किसी
विशेषता दिखाई दे तो उसको मेरे ही अंश से उत्पन्न जानो

इस वाक्य पर विश्वास लाने से भगवान राम अ
कृष्ण ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े महापुरुष कि जिन्होंने अधर्म
दूर कर धर्म की पुनः स्थापना की और संसार में एक नव
परिवर्तन कर दिया, यह सब अवतारी ही कहे जा सकते हैं
कबीर, नानक, स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य, स्व
दयानन्द, मूसा, ईसा तथा हजरत मुहम्मद साहब इत्यादि
सभी साधारण पुरुष नहीं हुए । इन सबने ही मजहबी दुनि
में हलचल पैदा कर दी थी और लोगों को ईश्वर परस्ती
ओर झुकाया था । हमारी समझ से तो यह सब ही अव
थे । हाँ ! यह बात अवश्य माननी होगी कि सबकी शक्ति
बराबर नहीं थीं, न्यूनाधिक थीं, समयानुकूल जैसे काम क
की आवश्यकता थी वैसी ही ताकतें उनको समर्पण की
थीं । बस ! इतना ही अवतारवाद है । निराकारवाद कहता
कि यह सब योगीराज थे, महापुरुष थे, परन्तु ब्रह्म के अव
नहीं थे ।

हम

अब हमारी सुनो -- हम कहते हैं कि यदि यह अव
थे तब भी हमारे लिये पूज्य हैं और अवतार नहीं थे तब
हमारे लिये पूज्य हैं क्योंकि उन्होंने जीवों के कल्याण के
बड़े-बड़े काम किये और रास्ता दिखाया । परन्तु न तो
उनका ध्यान करते हैं और न हमारे आदर्श इनमें से कोई

हम तो वहाँ पहुँचना चाहते हैं कि जहाँ न साकार है और न निराकार । इन दोनों से ऊँची अवस्था है । गीता जिसको लिखती है :--

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
नतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

अर्थात् -- मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे हूँ और ऊँचा हूँ । बस हमारा आइडियल यही स्थान है, इसी अन्तिम पद की प्राप्ति के लिये हमारी कोशिश है ।

मूर्ति पूजा

बुतपरस्ती का रिवाज किस जमाने से चला और क्यों चला इसमें इतिहास वेत्ताओं के दो मत हैं । एक गिरोह कहता है कि त्रेतायुग में ईजाद हुई और उस युग के मनुष्य शिवलिंग के रूप में इसकी आराधना करने लगे । दूसरा फिर्का बतलाता है कि बौद्धों ने इसका सबसे पहिले प्रचार किया फिर उन्हीं से जैनियों ने, हिन्दुओं ने और दुनियाँ की दूसरी कौमों ने इसको ले लिया, यहाँ तक कि सारा संसार बुतपरस्त बन गया । जौराष्टर मत के मानने वाले पारसी लोग बुतपरस्त थे । वह सूर्यदेव की मूर्तियाँ बना कर उनकी पूजा करते थे । बाबुल देश के बादशाह ''नैबूकिडनजर'' ने तो कई सौ फुट ऊँची सुवर्ण की एक मूर्ति सूर्य की बनाई थी । ईसाई और यहूदी बुत परस्ती करते थे । रौमन कैथोलिक फिर्का अब तक बुत परस्त है । हजरत इब्राहीम जिनको कि पश्चिमी सारे देश अपना आदि पुरुष मानते हैं बुत परस्ती करते थे । मक्का का संग असवद नाम का पत्थर उन्हीं के हाथ का स्थापित किया हुआ है कि जिसको बोसा देने के लिये और उसकी परिक्रमा करने के लिये

मुसलमान दूर-दूर से जाते हैं । वर्तमान युग के सन्तों ने त
आर्यसमाज ने बुतपरस्ती को दूर हटाया परन्तु किसी न कि
रूप में यह रिवाज उनके यहाँ भी मौजूद रहा । कबीर
अनुयायी उनके चित्र को फूल चढ़ाने लगे । नानक साहब
भक्त गुरु ग्रन्थ साहब की पूजा करने लगे और उसकी सवा
निकालने लगे । राधास्वामी तथा अन्य अनेक मतों के आद
"खड़ाऊँ" को ही शिर झुकाने लगे । इत्यादि । यह सब मू
पूजा ही है । अब थोड़े ही दिनों से आर्य समाज ने भी वे
की सवारी निकालना और श्री स्वामी जी के चित्र को फू
मालाओं से सुसज्जित करना आरम्भ किया है, आगे चल क
इसका बड़ा रूप हो जायेगा और धूप, दीप, नैवेद्य का भी नम्
आ जायेगा । कहने का तात्पर्य यह है कि हमको तो सब
परस्त ही दिखाई दे रहे हैं, कोई किसी रूप में और कोई कि
रूप में ।

ईजाद

बुतपरस्ती की ईजाद किस लिये हुई और कालान्त
उसने कितने रूप पलटे ? इस प्रश्न का उत्तर हम एक महापु
के शब्दों में देना चाहते हैं, जो हमने उनके मुख से सुना थ

सन् १९०६ ईसवी की बात है । गर्मी के दिनों
सायंकाल को गंगा किनारे घूमते हुए हमको एक हठयोगी-द
स्वामी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ । बातचीत करने
पता चला कि वह पुराणों के और शास्त्रों के बड़े अच्छे वि
भी हैं । हम उनके पास बैठ गये और स्वाभाविक यही प्र
उनसे कर दिया कि -- मूर्ति पूजा का जन्म कब से और
लिये हुआ ? आपने जो कुछ उत्तर दिया वह हम आपको
बताते हैं --

बोले -- विद्वानों ने काल के चार भाग किये हैं । (१) सतयुग (२) त्रेतायुग (३) द्वापर और (४) कलियुग । सत्युग के मनुष्य शुद्ध सात्विकी वृत्ति वाले देव स्वरूप होते थे। उनको न तो कर्म की आवश्यकता थी और न सगुण उपासना की । केवल विचार योग के द्वारा अपने भ्रम के आवरण को छेदन कर मुक्ति धाम प्राप्त कर लिया करते थे । धीरे-धीरे बुद्धियों में मलिनता आती गई और मनुष्यों के मन और बुद्धि स्थूल बन गये । अनेक जिज्ञासु सूक्ष्म साधनों के योग्य नहीं रहे, यह देख कर उस समय के आचार्यों ने मूर्ति पूजा की सृष्टि-रचना की । जो लोग अन्तर्मुखी वृत्ति करके सूक्ष्म तत्त्वों पर अपने ध्यान को लगाने के अयोग्य थे उनके लिये यह आज्ञा दी गई कि कुछ दिवस तक बाहर कोई वस्तु स्थापित करके उसको अपना ध्येय बनाओ । जब उस पर मन ठहरने लगे तो फिर उसको घुमा कर अन्दर की ओर मोड़ देना।

यह स्थापना शिवलिंग के रूप में की गई । लिंग के अर्थ हैं -- चिन्ह, निशान । शिव के अर्थ हैं -- कल्याणकारी ईश्वर । तात्पर्य यह है कि ध्यान करने के लिये अपने ध्येय का कोई चिन्ह बाहर बना लेना 'शिवलिंग' है । वैश्य और शूद्रों को यह सुगम जान पड़ा और उन्होंने अपने-अपने मन्दिर स्थापित कर उसमें एक गोलाकार पत्थर का अथवा धातु का एक लिंग रख उस पर त्राटक करने लगे जैसे कि मैस्मराइजर कागज या दीवार पर गोल निशान बना कर करते हैं । जब उनकी वृत्ति इस स्थूल पर एकाग्र होने लगती थी तब गुरु लोग उसको अन्दर मोड़ने का यत्न करते थे, इससे इन स्थूल बुद्धि वालों का रास्ता सुगम हो जाता था । यह सब त्रेता में हुआ और द्वापर के अन्त तक रहा ।

महाभारत के पश्चात् कलियुग के आदि में इस शि उपासना का रूप बदल गया। शिव एक अलहदा देवता मा जाने लगा और उसी के साथ-साथ शक्ति की पूजा-अर्चना रिवाज चल पड़ा, इस प्रकार देवी के मन्दिरों की स्थापना हुई परन्तु आजकल के मन्दिरों में जैसी स्त्री के रूप में देवी मूर्तियाँ पाई जाती हैं वैसा उस काल में नहीं था। उस सम शक्ति के लिये भी एक काला सुडौल पत्थर रख लेते थे किसी दीवार पर कोई निशान बना लेते थे। शक्ति आचार्यों प्रजा को बलि चढ़ाने का उपदेश देना प्रारम्भ किया, इस त धर्म के नाम पर चारों ओर हिंसा का राज्य छा गया। गौत बुद्ध को यह पसन्द नहीं आया, उसने इन मायावादियों प्रभुत्व हटाने का संकल्प लिया और धीरे-धीरे उसकी एक अ विजय हुई। जनता उसको एक विशेष पुरुष मानने लगी यहाँ तक कि हिन्दुओं ने भी इसको अपने चौबीस-अवतारों शामिल कर लिया।

गौतम के पश्चात् उसके अनुयाइयों ने बुद्ध की आ सहित मूर्तियाँ बना डालीं और उनकी पूजा होने लगी। बौ से यह रिवाज जैनियों में आया उन्होंने अपने तीर्थंकरों मूर्तियाँ बना मन्दिरों में प्रवेश की। हिन्दू भी पीछे कब सकते थे। अवतार-वादियों ने अपने अवतारों के मन्दिर ब और उनमें अपने इष्ट की मूर्तियाँ आकार सहित बना रक्खीं। इस प्रकार एक शिव-लिंग ने आकार का रूप धा कर लिया। शैव-शाक्त और बौद्ध धर्म का डंका हिन्दोस्तान में नहीं रहा बल्कि अ़रब, यूनान, श्याम और तुर्किस्तान फैला हुआ था। मुसलमान, ईसाई और मूसाई धर्म इन्हीं

धर्मों के उदर से उत्पन्न हुए जानों, इसीलिये इनकी कई रस्मों को इन्होंने भी ले लिया और वह आज तक उनमें प्रचलित है। इन्हीं में से मूर्ति पूजा भी एक है ।

हमारी मूर्ति पूजा

हमारे यहाँ जड़ मूर्ति की उपासना करने की आज्ञा नहीं है क्योंकि जड़ की उपासना करने वालों की बुद्धि में जड़ता उत्पन्न हो जाती है जैसा कि वेदों में आया है -- तं यथोपासते तदेव भवति । कहने को तो सभी कहते हैं कि हम मूर्ति को मूर्ति नहीं समझते, अपने इष्ट की भावना ही रखते हैं परन्तु यह सब कहने भर की बात है । यदि ऐसा कर सकते तो वह दो ही दिन में महात्मा नामदेव अथवा परमहंस रामकृष्णदेव बन जाते ।

हमारी सुसाइटी में भी कुछ लोग ऐसे आ जाते हैं कि जिनके मन बड़े ही चंचल और स्थूल होते हैं । जिनसे कोई किसी प्रकार का साधन नहीं हो सकता इसलिये यह आज्ञा दी जाती है कि देखी-भाली, चैतन्यमयी गुरु की स्थूल मूर्ति का ध्यान करो । यह सन्तों के यहाँ "भृंगी साधन" कहलाता है । जिस प्रकार कीड़ा भृंगी का ख्याल करने से भृंगी बन जाता है उसी प्रकार शिष्य गुरु रूप हो जाता है । उसका मन स्थिर और शान्त बन के केवल इसी एक साधना से ही अधिकार में आता है । आगे उसे यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह उस मन से कोई काम ले । सूफियों में इस साधन को 'अमल तसव्वुर' कहते हैं । यह हमारी मूर्ति पूजा है ।

भक्त और भगवान

भक्त और भगवान् तथा जीव और ब्रह्म दोनों अलग-

अलग वस्तुयें हैं परन्तु अभ्यास और भजन-साधना करने वा में आगे चल कर एक ऐसी अवस्था आती है कि जहाँ पर भ अपने को मिटाकर थोड़ी देर के लिये भगवान बन जाता जीव ब्रह्म से तद्रूपता प्राप्त कर लेता है । ऐसे उच्चकोटि भक्तों के हृदय-मन्दिर भगवान् के निवास स्थान बन जाते हैं वह किसी समय भी अपने भक्त के पास से हटना पसन्द न करते । प्रेम-रूपी रस्सी में बँधे हुए हर समय वहीं मौजूद र हैं । किसी कवि का वचन है --

कठिन प्रेम का पन्थ, जहाँ नियत गति नहीं ।
कहत सकल सद्ग्रन्थ, प्रेम भाव के वश हरी ।।

जिन लोगों को सुगमता से भगवान् के दर्शन करना वह भक्तों के रूप में उसकी दिव्य छटा को खोजें, उनके प्रेम का सम्बन्ध जोड़े, सेवा व सुश्रूषा से उनको प्रसन्न कर मौज आने पर वह भगवान् के पुजारी अपने मन्दिरों के कि खोल देंगे और तुम्हें दर्शन दिला देंगे ।

ऐसे महापुरुषों से तुम्हारी बैटरी का कनैक्शन (सम्ब जुड़ते ही भगवान् तक तुम्हारी डोरी पहुँच जाती है और से सीधी आनन्द की धारें तुम तक पहुँचने लगती हैं और प्रेम के शान्तिदायक रंग में सरावोर हो जाते हो ।

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल ।।

बस यह हमारे यहाँ का एक सिद्धान्त है कि पुरुषों के अन्दर ईश्वर का वासा मान कर उसको वहीं ख है । महर्षि पतञ्जलि योग सूत्र में लिखते हैं --

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।

अर्थ -- वीतराग अर्थात् जीवन मुक्त पुरुषों में संयम करने से चित्त स्थिर होकर योग प्राप्त होता है । यह वही साधना है कि जिसकी व्याख्या हम अभी कर आये हैं ।

हठ क्रियायें

आसन, प्राणायाम तथा मुद्रा इत्यादि हठ की क्रियाओं का हमारे यहाँ निषेध नहीं है जो कर सकता हो वह करे । हमने भी कई प्रकार के प्राणायाम और थोड़े से आसन सीखे थे और उनको बहुत अर्से तक करते भी रहे । उनसे शारीरिक और मानसिक लाभ अवश्य होता है परन्तु ऐसा हम नहीं मानते कि जो मनुष्य इसके अयोग्य हो, प्राणायाम इत्यादि न कर सकता हो उसे आत्मिकलाभ हो ही नहीं सकता । हमारे सरल साधन बिना प्राणायाम किये ही इतना ऊँचा उठाते हैं कि जो एक प्राणायामी के लिये इतनी जल्दी असम्भव है ।

कीर्तन

आजकल कीर्तन का प्रचार अधिक हो रहा है । वर्तमान युग में सभी साधु-सन्यासी कि जिन्होंने अपने जीवन में वेदान्त कथन करने के सिवाय भक्ति मार्ग की ओर आँख उठा के भी कभी नहीं देखा था और न इस प्रकार के कोई साधन किये थे, कीर्तन कराते फिर रहे हैं । नगर-नगर और देश-देश में कीर्तन पार्टियाँ स्थापित हो रही हैं । पत्र निकलते हैं, उत्सव होते हैं, इसके विषय में भी हमारा मत सुनो --

कीर्तन बुरी चीज नहीं है । भगवान की कीर्ति वर्णन करना, उनके गुणानुवाद गाते हुए अपने को मुग्ध कर देना कीर्तन कहलाता है । महाप्रभु चैतन्यदेव ने कलियुगी प्राणियों को दूसरे साधनों के अयोग्य समझ कर कीर्तन का विशेष रूप

से प्रचार किया था, तब से इसका रिवाज चल पड़ा। सुग
होने के कारण तथा आनन्ददायक होने के कारण साधारण लो
इसमें जुट पड़े और धीरे-धीरे यह चारों ओर फैल गया।

श्रीमद्भागवत् लिखती है कि भक्ति के नौ अंग हैं वि
जिसमें कीर्तन भी एक है। उसका श्लोक है --

श्रवणं, कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम्।
अर्चनं. वन्दनं, दास्यं, सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

अर्थ -- सुनना, कीर्तन करना, याद रखना, सेवा करन
भेंट देना, वन्दना करना, अपने को दास समझना, अथवा मि
समझना, तथा अपने को अर्पण कर देना यह नौ भक्ति के अ
हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को पूर्ण भक्त बनने के लिये इ
नौ बातों का पूर्ण रीति से पालन करना होगा जो ऐसा न
करेगा वह पूरा नहीं उतरेगा। क्यों ? इसलिये कि भक्ति व प्रे
का सबसे बड़ा उसूल यह है कि भक्त को हर समय भगव
की याद रहे कोई श्वांस उसकी ऐसी न निकले कि जिसमें उ
उस प्रीतम की सुध न हो।

जैसी प्रीति कुटुम्ब की तैसी हरि सों होय।
चले जाउ वैकुण्ठ को बाँह न पकरै कोय॥

काम-काज और व्यवहार करते हुए भी दिल से उस
ख्याल न जाने पावे। परन्तु यह काम बहुत ही कठिन
इसलिये आचार्यों ने इसका एक साधन बताया है और वह
है कि तुम्हारे जितने भी कार्य हों उसके लिये हों। खाओ
उसके लिये, पियो तो उसके लिये, दूसरों की सेवा करो
उसके लिये, अपने घर वालों तथा बाहर वालों से प्रेम करो

उसके लिये इत्यादि कहाँ तक गिनायें । तुम्हारा जीवन ही उसके लिये हो । हम इन सबकी व्याख्या में नहीं जाना चाहते । हमको तो सिर्फ यह बताना है कि 'हमारी विचारधारा हर समय उसी के चरण कमलों में टकराते रहनी चाहिये' यही भक्ति मार्ग का सबसे मुख्य साधन है ।

तुमने देखा होगा कि साधन अवस्था में मन बराबर एक ही काम नहीं कर सकता । वह थोड़ी देर बाद ऊब जाता है और उस कार्य को छोड़ के भागना चाहता है, परन्तु उस समय यदि उसी काम का रूप बदल दिया जाय, उद्देश्य चाहे वही हो तो उसे मन बड़े शौक से करने लगता है । जैसे पढ़ते-पढ़ते अगर तुम परेशान हो जाओ तो उसी विषय में बातें करने लग जाओ या उसी सम्बन्ध की बातें सुनने लग जाओ तो तबियत को उलझन नहीं सतायेगी । इसी प्रकार इष्ट एक ही हो परन्तु भक्ति के रूप बदलते हुए हों तो उसमें सरलता हो जायेगी ।

इस नवधा भक्ति के नौ अंग हैं । जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक ही साथ बढ़ते हैं ऐसा नहीं है कि एक हाथ बढ़ जाय या एक पाँव बढ़ जाय और सब शरीर छोटा रहे, इस तरह इन सबका पालन एक साथ करने पर ही पूर्ण फल मिलने की सम्भावना है । जो लोग केवल एक ही अंग का पालन करते रहें और शेष भागों से कोई सरोकार न रक्खें तो उनको सुख नहीं मिल सकता । ऐसे लोग संसार में मूर्खों की पंक्ति में बैठाये जायेंगे । यही आजकल के कीर्तन वालों का हाल है । उनको यह खबर नहीं है कि इसके आगे भी हमें कुछ करना-धरना है या नहीं ॥

इसकी जिम्मेदारी उन लोगों पर ही नहीं बल्कि अधिकतर

उन कीर्त्तनाचार्यों पर है कि जो उनके उपदेष्टा बन अपने ऊपर फूल माला चढ़वाते हैं और अपनी आरती उतरवाते हैं। इनका कर्त्तव्य था कि वह उन लोगों को बोध कराते कि यह भक्ति के स्कूल की प्रथम श्रेणी है, अभी आगे और क्लासों में तुम्हें जाना है परन्तु देखा गया है कि इसमें आगे कोई नहीं चलता। मान यह अपना कर्त्तव्य पूरा कर बैठे अब कुछ और भी अप अनुयाइयों को बताना इसके लिये शेष नहीं रहा। हमारे पा ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि जिन लोगों ने हमसे आकर य शिकायतें की हैं कि कीर्तन करते वर्षों गुजर चुके हैं पर म की दशा नहीं बदली। क्यों ? इनके गुरुदेवों ने इनको बहिर्मुख साधन में अटका रक्खा है। मन के अन्तर्मुखी साधन उपदेश ही नहीं दिया। फिर मन की अवस्था कैसे बदले

यदि इनसे कोई पूछने लगे कि महाराज ! कीर्तन ऊपर इन सबको क्यों नहीं चलाते तो झट उत्तर दे देते हैं अयोग्य हैं। जब घरबार छोड़ कर लँगोटी लगा लें तब कु कर सकते हैं। वाह री फिलासफी ? जिन राम व कृष्ण तुम आदर्श मान पूजते हो, जिनका भजन करते हो उन्होंने कभी लँगोटी लगाई थी या इनको ही लगवाते हो। त्याग से होता है या लँगोटी से। तुम्हारे पूज्य देव कृष्ण ने गीता अपना आदेश सुनाया था, क्या वह नहीं कह रहे कि निष्क कर्म करते हुए व्यवहार में परमार्थ कमाओ, यही स उच्चकोटि का साधन है फिर उनके हुक्म की अवहेलना क हो। क्या बिना आज्ञा पालन किये किसी पिता की अ केवल नाम जपने से प्रसन्न रह सकती है ? हम तो ऐसा मानते ।

हमारा मत

हम कीर्तन नहीं कराते, उससे ऊँचा साधन "ध्यान" कराते हैं और साथ ही कर्म के फलों का त्याग भी कि जिसको गीता लिख रही है --

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानानध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

अर्थ -- अभ्यास से ज्ञान और ज्ञान से ध्यान ऊँचा होता है । और कर्म के फल का त्याग तो सबसे बढ़ कर है । इसी से शान्ति पद प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार कोई ऊँचे क्लास का विद्यार्थी अपने कोर्स की किताबों को छोड़ नीचे के दर्जे की पुस्तकों को याद करने लगे तो उसका समय व्यर्थ नष्ट होने के सिवाय कोई लाभ उसे नहीं पहुँच सकता, इसी तरह ध्यान के अभ्यासियों का कीर्तन करना ऊँची सिड्ढी से नीचे उतर आना है । अब हानि-लाभ का अन्दाजा आप लोग लगा सकते हैं । तात्पर्य यह है कि जब तुम ध्यान के साधन पर आ गये तो कीर्तन रूपी साधन की तुम्हें अब आवश्यकता नहीं रही । रास्ता एक हैं मगर वह निचला है और यह ऊँचा ।

वेदान्त वाद

वेद के अर्थ ज्ञान के हैं । ज्ञान की भी एक सीमा है । मनुष्य अपने ज्ञान को इतना बढ़ावें कि उसकी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाय, उससे आगे वह कुछ न जान सके -- उसको वेदान्त कहते हैं । इसका प्रचार सबसे प्रथम श्री स्वामी शंकराचार्य के द्वारा हुआ, पीछे स्वामी निश्चलदास और स्वामी

सुन्दरदास जी ने जो एक दादू-पंथी थे साधू थे इसको नया रंग
दे दिया, उस समय से वेदान्त की दो शाखायें हो गईं । एक
प्राचीन वेदान्त और दूसरा नवीन वेदान्त । स्वामी शंकर के
वेदान्त में और इस नवीन वेदान्त में बहुत अन्तर है । शंकर
स्वामी अनुभवी ज्ञान की प्राप्ति का साधन योग (कर्म) और
उपासना मानते थे, उनके वेदान्त में भक्ति की प्रधानता पा
जाती है, परन्तु नवीन वेदान्तियों में यहाँ कर्म और भक्ति क
निषेध है । यह केवल विचार द्वारा अपने अन्दर यह दृ
निश्चय करने की कोशिश किया करते हैं कि हम ही ब्रह्म हैं
ब्रह्म सत् है और यह जगत मिथ्या है ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन अर्थात् सुनना और सु
हुए पर विचारना फिर उस विचारे हुए के अनुसार अपने ख्या
को पुख्ता कर लेना यही इनके यहाँ तीन साधन हैं । इन्द्रि
और शरीर के संयम के लिये कर्म और मन को संयमी अवस्
में लाने कि लिए उपासना लाजिमी चीज है, यह प्राचीन ऋषि
की पद्धति थी परन्तु इन लोगों ने सबको त्याग की कल्पना
सहारे आगे बढ़ाने का इरादा किया, मगर शुद्ध संकल्प न ह
के कारण यह नीचे फिसल पड़े, इसलिये इनकी भावनायें झू
तथा कल्पना मात्र रह गईं और इनका ज्ञान वाचिक त
मौखिक रह गया । कहते हैं परन्तु परीक्षा के समय करके न
दिखा सकते, यह इनकी कमजोरी है ।

उपासना-कुरबत, समीपत्व तथा पास बैठने का नाम
किसी वस्तु के ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसके समीप पहुँचने
जरूरत है और उसको खुली आँखों से प्रत्यक्ष देखने की जरू
है । इसी अवस्था को साक्षात्कार कहते हैं । इसी से य

ज्ञान होता है बिना ऐसा किये जो मनुष्य दूर बैठा हुआ अनुमान (क़यास) लगाता रहे और मन-गढ़न्त उसके विषय में ख्याल बाँधता रहे तो वह अपनी अज्ञानता कैसे दूर कर सकता है ? यही इनका हाल है ।

हम तो इसी मत के जानने वाले हैं कि प्रथम कर्म करो और कर्म के द्वारा अपने को उपासकों की अवस्था में प्रवेश करो। ज्यों-ज्यों तुम्हारी उपासना बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों ज्ञान अपने आप होता जायेगा । विचार की जरूरत नहीं पड़ेगी । जैसे किसी मनुष्य को देख लिया अब उसके विषय में न तो सोचने की कोई जरूरत रही और न किसी से पूछताछ की ।

फिर वही

यह सब थोड़ी-सी मुख्य-मुख्य बातें संक्षेप में आपके सम्मुख रक्खी हैं ताकि आपको भी यह अन्दाजा हो कि हमको किस लाइन पर जाना है । अब आगे फिर उसी (भण्डारे के) प्रश्न पर आते हैं । यह हमने बता दिया कि भण्डारे का उद्देश्य है -- लोगों में आत्मिक उन्नति कराना और बस । परन्तु इसके साथ-साथ हमको इस बात की भी आवश्यकता है कि हम सब प्रेमपूर्वक एक साथ ही खायें, एक साथ ही पियें, एक साथ ही रहें और बिना भेदभाव के एक साथ ही लेटें । तात्पर्य यह है कि यदि हम वेदों की -- 'संगच्छध्वं, संवदध्वं' वाली आज्ञा पर अपने को न चलायेंगे तो हम अपने अन्दर से प्रेम ही न खो सकेंगे बल्कि जिस वस्तु की जिज्ञासा के लिए इतना कष्ट उठा रहे हैं वह (आत्म उन्नति) भी हमसे कोसों दूर हो जायेगी और हमारा यह संगठन भी शिथिल पड़ जायेगा । प्राचीन सन्तों का भी यही दस्तूर था, उनके यहाँ लंगर खाने खोल दिये जाते थे

उसी से आने वालों को भोजन मिलता था और हमारे
गुरुदेव को भी यही पसन्द था ।

इसलिए इस शैली को हम अभी तक तो छोड़ने
तैयार नहीं हैं आगे की ईश्वर जाने । अब रह गया सवाल ध
का । यह हम ऊपर बता आये हैं कि धन की जरूरत सि
इतनी है कि जिसमें आने वाले सज्जनों के लिए भोजन
तथा आराम से सोने बैठने का इन्तजाम हो जाय, इस
सिवाय और कोई खर्चा नहीं है । पिछले भण्डारों से जो कु
तजुर्बा हुआ है वह यह है कि हमारे यहाँ चार प्रकार के मनु
आते हैं । एक श्रेणी उन प्रेमियों की होती है जो अप
निर्धनता के कारण भण्डारे फंड की कुछ भेंट नहीं कर सक
उनके लिये यही क्या कम है कि किसी प्रकार किराया भा
खर्च करके यहाँ तक आन पहुँचे हैं । उनकी सच्ची जिज्ञा
उन्हें यहाँ खींच लाई है । हमारे गुरु महाराज तो ऐसे गर
प्रेमियों में से किसी-किसी को किराया तक अपने पास से
दिया करते थे, हम लोग अगर उन बिचारों को भोजन की
सहायता न पहुँचावें तो फिर हमारे अन्दर प्रेम-भाव ही क
रहा। हम खायें और वह सब मुँह तार्के ? यह कहाँ का भ्रा
भाव है । हम सब एक गुरु के पुत्र हैं, एक भाई हैं । जो
खायें वही हमारे भाई भी बिना किसी भेदभाव के खायें य
प्रेम की पहचान है । धनी और निर्धन सब मिल कर एक
जायें, यही हमारा प्रेम-संगठन है । ऐसे निर्धन भाइयों
तादाद पच्चीस फीसदी समझिये ।

दूसरे गिरोह में कुछ ऐसे महापुरुष होते हैं कि जो हम
पूज्य हैं और जिनकी सेवा करना हमारा धर्म है, और कुछ
नये आने वाले जिज्ञासु होते हैं कि जो अभी तक पूर्ण रूप

सोसाइटी के मेम्बर नहीं बने इसलिए न उनसे कुछ लिया जाता है और न लेना चाहिए । हाँ ! यदि श्रद्धा पूर्वक अपनी इच्छा से कोई उनमें से दान करने लगे तो वह दूसरी बात है । ऐसे लोग लगभग पन्द्रह फीसदी जानिये ।

तीसरी पचास फीसदी की तादाद उन प्रेमियों की होती है कि जो अपना पूरा खर्चा तो नहीं चुका सकते मगर कुछ न कुछ दे जाते हैं और उनकी इस सहायता की रकम से भी बहुत से काम हो जाते हैं ।

अब रह गये दस फीसदी । यह वह उदार भाई हैं कि जो अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ इसका बोझ अपने शिर पर उठाते हैं । अपनी जरूरतों से पैसा बचा कर इस धर्म यज्ञ में खर्च करते हैं और तन तथा धन से सेवा कर सबको आराम पहुँचाने के उत्सुक रहते हैं । अगर यह लोग कंधा डाल जाँय तो न तो यह जलसा हो और न आप में से किसी को आत्मिक लाभ हो ।

इन अपने सहायकों को हम धन्यवाद तो नहीं दे सकते क्योंकि धन्यवाद वहाँ दिया जाता है कि जहाँ गैरियत हो, अपना-पराया दिखाई दे रहा हो, जब सब अपने ही हैं तो धन्यवाद कैसा ? हम सब एक फैमिली के मेम्बर हैं । जब घर में कोई कारज होता है तो सब भाई उसमें हाथ बँटाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं उसी तरह यहाँ समझना चाहिये ।

इस हमारे कथन से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि भण्डारा क्यों किया जाता है और उसका खर्चा कहाँ से और किस प्रकार चलता है, और साथ ही हमारे यहाँ के सिद्धान्तों

से भी आपकी वाकफियत हो जाती है, अब आगे आप
अधिकार है कि इनको पसन्द करके चाहे आप लाभ उठावें अ
चाहे आप ठुकरावें। हमने परिश्रम से तथा गुरु कृपा से जि
सच्चे खजाने का पता लगाया है वह मुफ्त बिना दामों आप
भेंट करते हैं। समय पानी की तरह बहता चला जा रहा
अवसर को अमूल्य निधि समझ के हाथ से न खोइये। यह
की पुकार है, उल्फत की दावत है। तर्क-वितर्क छोड़ के आज
से तहकीकात कीजिए। यदि यह मार्ग लाभदायक प्रतीत हो
उससे लाभ उठाइये। इससे मनुष्य की आँखें खुलती हैं अ
वह जीवन में ज्ञान प्राप्त कर सफल होता है। चारों ओर दु
और निराशा छाई हुई है, इससे तुम्हें आशा और शान्ति
जीवन मिलेगा, तुम कृत-कृत्य हो जाओगे।

* ओ३म् शान्ति *

हमारा जीवन

(प्रवचन पूज्य गुरुदेव)

****

☆

इस संसार में सुख भी है और दुःख भी है । सुख हमको प्यारा है और दुःख कुप्यारा है । हम सुखी रहना चाहते हैं, सुख ही की प्राप्ति के लिये सर्वदा लालायित रहते हैं, नौकरी-चाकरी, वनिज-व्यौपार, खेती-बाड़ी इत्यादि हमारे सारे उद्योग सुख के लिये ही होते हैं । धन-वैभव, मकान-जायदाद, सवारी शिकारी सारी सामग्री हम सुखी रहने के लिए ही एकत्रित करते रहते हैं । हम विवाह करते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं, गृहस्थी बना कर रहते हैं इसलिए कि इन भोगों के द्वारा हमको आनन्द और सुख मिलेगा । खेल-तमाशे, मेला-दशहरा और सैर-सपाटे में हम इसलिये घूम-फिर के अपना समय नष्ट करते हैं कि वहाँ हमारे मन को आनन्द व सुख मिलेगा, परन्तु इतना करने पर भी हमारे जीवन का कितना भाग सुख से व्यतीत होता है, हम आनन्द और हर्ष की चाहना रखते हुए और उसके लिए निरन्तर कोशिश करते हुए भी कितना उसको प्राप्त कर

पाते हैं, इसका उत्तर हर मनुष्य अपने अन्तर से ले सकता है
ऐसा क्यों होता है, हम सुख चाहते हुए और उसके लि
लगातार प्रयत्न करते हुए भी दुःख सागर में कैसे गिर पड़ते
यह एक प्रश्न है जो अधिकतर समझदार लोगों के मस्तिष्क
घूमा करता है । आज हम इसी पर विचार करेंगे और उन
उत्तर निम्न शब्दों में समझाने का यत्न करेंगे ।

दुःख क्यों होता है ?

दुःख क्यों होता है और उसके दूर करने का क्या उप
है ? इसी एक सवाल को सारे धर्मग्रन्थों ने हल किया
अपनी युक्ति अनुसार सब ने ही इसके उपाय बतलाये हैं
शास्त्रों की फिलासफी, उपनिषदों का ज्ञान, पुराणों की गाथ
सब इसी प्रश्न के उत्तर में वर्णन की गई हैं परन्तु वैदि
सिद्धान्त जितनी अच्छी तरह इस पर प्रकाश डाल रहे
जितना अच्छा इस विषय को वेदों ने समझाया है उत
सरलता में कोई भी धर्म-पुस्तक नहीं पहुँच सकी इसीलि
पहिले हम उसी के कथनानुसार थोड़ा-सा विचार करके अ
इसका उपाय बतायेंगे । पाठक ! थोड़ा विचार पूर्वक पढ़े

महत्तत्व

एक समय था जब यह समस्त दृश्यमान जगत अ
साक्षी चैतन्य आत्मा के साथ अचेतावस्था में सोया हुआ
था, वह ब्रह्म की रात्रि थी । सवेरा हुआ । ब्रह्म ने
सम्हाला । गहरी निद्रा (सुषुप्ति) में सोए हुए मनुष्य की
आँख खुलती है तब सबसे पहले उसे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होत
अधखुली आँखों से वह यह देखने लगता है कि "मैं हूँ

मैंने खूब आनन्द की निद्रा ली'' इसी प्रकार ब्रह्म को चेतनावस्था आई उसको अपने अस्तित्व का थोड़ा सा बोध हुआ । इस अवस्था का नाम ''महत्तत्व'' है कि जो सृष्टि के आरम्भ में सबसे प्रथम उत्पन्न हुई ।

प्रलय

इस समय ब्रह्म (आत्मा) अकेला ही था, जिस प्रकार सोने वाले मनुष्य की मन-बुद्धि और इन्द्रियों की सारी शक्तियाँ निद्रा आते ही सिमिट कर उसके अन्दर समा जाती हैं इसी प्रकार महाप्रलय रूपी-आहोरात्रि में ब्रह्म की सम्पूर्ण दिव्य शक्तियाँ उसी के भीतर लय हो गयी थीं । पता नहीं चलता था कि यह समस्त प्राणी कहाँ चले गये हैं, यह पृथ्वी इत्यादि लोक-लोकान्तर, यह मिट्टी, जल-वायु इत्यादि पंचभूत किसमें विलीन हो गये हैं । यह उस समय (महाप्रलय) की अवस्था थी ।

कारण सृष्टि

सुषुप्ति-निद्रा से जगने के समय जैसा जीवों को एक प्रकार का आनन्द आया करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी उस त्रिगुणातीत अवस्था में यही कारण ज्ञान और शुद्ध अहंकार के सहारे आनन्द अनुभव कर रहा था । यह जगत की कारण अवस्था 'सत् लोक वा आनन्दमय कोश' कहलाती है ।

निर्मल, निरीह, शुद्ध और मुक्त चैतन्य ज्योति पर आनन्द का गिलाफ चढ़ गया । सारे जीव भी सचेत हो आनन्दमयी सुरापान करने लगे और उसकी मस्ती में झूमने लगे ।

ब्रह्म की उनींदावस्था खत्म हुई, उसकी चैतन्यता बढ़ी, उसके अन्दर शुद्ध ज्ञान का विकास होने लगा इस प्रकार एक

ज्ञान का गिलाफ ऊपर और आ गया । ये ही 'विज्ञा
कोश' कहलाया । यहाँ तक कारण-सृष्टि का अन्त हो ग

अपने स्वभावानुकूल उसने विचारा कि 'यथा पूर्वमकल
कुछ कार्य करना चाहिए । उसने अपनी सोई हुई शक्तिय
एक धक्का दिया और वह दो धार होकर उसके अन्दर स
निकलीं ।

यह महद् शक्तिशालिनी दोनों धारायें बाहर
अपना-अपना कार्य करने लगीं । प्राण और अपान की ग
तरह एक धारा बाहर को फैलाव करना चाहती थी और
अन्दर को समेटना चाहती थी ।

ब्रह्माण्ड के छिन्न-भिन्न अथवा बिखरे हुए परमाणु
ऊपर इन दोनों शक्तियों का प्रयोग आरम्भ हुआ । एक
रही थी और दूसरी समेट रही थी । ब्रह्मदेव, अलग बै
तमाशा देख रहे थे । हाँ जब इनके कार्य में कुछ कमी
आती तो थोड़ा जोर और लगा देते थे ।

मच्छ-अवतार

यह ब्रह्म का पहला उतार हुआ इसी का नाम
अवतार है । यहाँ पुरुष और प्रकृति का योग होता है,
अव्यक्त आत्मा अपने बल (force) से इन दोनों धार
द्वारा प्रकृति के परमाणुओं को चलायमान करता रहता

एक धारा बाहर फेंकती है और दूसरी भीतर को
है । इस खेंचा-तानी के कारण ब्रह्माण्डीय वस्तुओं के
गोलाकार बन घूमने लगते हैं । एक-दूसरे से टकराने के
उनमें अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह बड़े वेग से घ

जलती हुई अग्नि की भाँति गर्मी और बहुत बड़ा प्रकाश अपने अन्दर से फेंकने लगते हैं । इसी का नाम 'हिरण्य-गर्भ' अवस्था है । यह सब कारण सृष्टि में होता है ।

कच्छपावतार

सम्भोग के पश्चात् जिस प्रकार तीन मास तक माता के उदर में गर्भ गुप्त रहता है उसी प्रकार ब्रह्म के तीन मास तक अप्रगट रूप से जगद्‌जननी-महामाया उसे धारण करके अपने समस्त कार्य बन्द कर देती है यह ब्रह्म की द्वितीयावस्था 'कच्छपावतार' कहलाती है । इस समय में प्राकृतिक समस्त पदार्थों के बीज परिपक्व किये जाते हैं और उस अण्डे (गोला) की ज्वाला बुझाई जाती है ।

वाराह-अवतार

ब्रह्म के चौथे महीने में हिरण्य गर्भ के कारण और गुप्त सृष्टि सूक्ष्म रूप धारण कर अपना परिचय देती है, परन्तु अभी उसके अन्दर ही विहार कर रही है, यह ब्रह्म की तृतीयावस्था ही 'वाराह-अवतार' है । तीन मास से जो वस्तुएँ गुप्त और छिपी हुई थीं अब फिर थोड़ी-थोड़ी अनुभव में आने लगी हैं और भविष्य के कार्यों का पता दे रही हैं । यही वाराह-भगवान का पृथ्वी लाना है । अज्ञान रूपी हिरण्याक्ष दैत्य को मारना और अन्धकार से प्रकाश में लाना, बस इतनी ही लीला इस समय की है ।

नृसिंहावतार

कारण और सूक्ष्म सृष्टि का कार्य ब्रह्म के नौ मास तक रहता है उसके पश्चात् समस्त लीलायें प्रकट होकर दर्शन देने

लगती हैं । यहाँ से स्थूल सृष्टि का आरम्भ होता है । ग
फूटता है और एक के अनेक रूप धारण कर लेता है ।
प्रकार कई प्रकार के जानवरों के एक ही अण्डे से अनेक
निकल पड़ते हैं उसी प्रकार यह हिरण्यमय गोला फटा
उसमें से अनेकों प्रकार के जीव-जन्तु मनुष्य, पशु,
जलचर-थलचर, पृथ्वी और चाँद सितारे इत्यादि लोक-लोका
निकल कर दृष्टिगोचर होने लगे और ऊपर कथन की
पाजेटिव (Positive) और निगेटिन (Negative) शक्तियों
सहारे चक्कर काटने लगे । यह ब्रह्म की चतुर्थ अ
'नृसिंह-अवतार' कहलाती है । कारण से सूक्ष्म और सूक्ष्म
आज स्थूल बन गई । इस तरह संसार की उत्पत्ति के
में वेद कथन करता है ।

हम दुःख का कारण सुनाने वाले थे परन्तु अवता
के चक्कर में पड़ गये, अब फिर अपने उसी विषय की
आते हैं ।

हिरण्य गर्भ व सृष्टि

पुरुष एक था, उस समय वह 'अक्षर ब्रह्म' था,
अपने अन्दर से अपनी शक्ति निकाली, वह महामाया
जगद्जननी 'उमा' बनी । अपने स्वभावनुकूल पुरुष में
आई कि मैं एक से अनेक बनूँ । प्रकृति के संयोग से इसक
उद्योग करने लगा । इच्छा रूपी बीज को लेकर उसने गर्भ
किया, कुछ दिन यह गर्भ गुप्त रहा, फिर धीरे-धीरे प्रक
लगा यह ब्रह्म का समष्टि और अव्यक्त रूप है । इ
'हिरण्य गर्भ' कहते हैं ।

माता के गर्भ से सन्तान बाहर निकल कर प्रकट हुई परन्तु अभी अत्यन्त छोटे आकार में है । जैसे सर्पिणी के एक अण्डे से कई सौ बच्चे निकलते हैं और फिर बाहर आकर वह बड़ा रूप धारण कर लेते हैं इसी प्रकार इस गर्भ ने यह सृष्टि रची और यह मानसिक व सूक्ष्म सृष्टि कहलाई ।

उमा और काली

हमने ऊपर बताया था कि ब्रह्म की शक्ति दो धार बन कर निकली थी एक धार प्राण दाता और फैलाव करने वाली थी और दूसरी प्राण हर्ता और सिमटाव करने वाली थी अथवा यों कहो कि एक धार (Positive) उठाने वाली थी और दूसरी धार (Negative) गिराने वाली थी । एक धार सुख, शान्ति और जिन्दगी दे रही थी और दूसरी दुःख, अशान्ति और अधर्म फैलाती हुई संहार करना चाहती थी । प्रथम धार शुद्ध सत्व की थी जो प्राण दाता थी इसलिये उसको 'उमा' कहा गया और दूसरी धार शुद्ध-तम की थी, तम-लय और नाश करता है इसीलिये इसका नाम 'महाकाल-शक्ति' रखा गया ।

देव और असुर

सत् से सतोगुणी सृष्टि और तम से तमोगुणी सृष्टि उत्पन्न हुई । जिन प्राणियों में दैवी सम्पत्तियाँ और सद्‌गुण हों उनको प्रकृति की सद् रूपी धार से उत्पन्न हुआ 'देव' समझो और जिसमें असद्‌गुण, मूढ़ता, अज्ञान और हिंसा इत्यादि आसुरी वृत्तियाँ अधिक हों उनको 'असुर' समझो ।

कश्यप ऋषि

पुराणों में लिखा है कि यह जगत् कश्यप जी से उत्पन्न

हुआ है । उनके दो स्त्रियाँ थीं एक का नाम 'दिति' था
दूसरी का नाम 'अदिति' था । अदिति से देवताओं की उ
हुई और दिति के गर्भ से दैत्य, दानव, सर्प, राक्षस,
इत्यादि हिंसक प्राणियों ने जन्म लिया ।

यह कश्यप और कोई नहीं था, परब्रह्म परमात्मा क
यहाँ कश्यप कहा गया है और प्रकृति की सत् रूपी धा
'अदिति' नाम दिया गया है । देवता अदिति से उत्पन्न हुए
दैत्य, दिति के गर्भ से प्रकट हुए ।

तुम कहोगे कि -- प्रकृति व महामाया तो एक ही
यह दो कहाँ से बता रहे हो । सुनो -- हम भी माया क
ही मानते हैं परन्तु जिस प्रकार एक ही शरीर के दक्षिण
वाम दो भाग होते हैं इसी प्रकार यह विश्वजननी-जगत्
भी दो भागों में विभक्त है । जैसे प्रत्येक शरीर के दाहि
में बिजली की पाजेटिव शक्ति और बायें अंग में निगेटिव
रहती है इसी तरह जगद्जननी माँ का दक्षिण भाग सतो
और वाम भाग तमोगुण से बना हुआ है ।

शक्ति मत

शक्ति की उपासना करने वालों में चार प्रकार के
पाये जाते हैं -- १. दिव्याचार, २. दक्षिणाचार, ३. व
और ४. अघोराचार । इनमें दिव्याचार और दक्षिणाच
सात्त्विकी साधन अहिंसा इत्यादि का पालन करते हुए
साक्षात्कार करते हैं और वामाचार और अघोराचार
आसुरी कार्यों में प्रविष्ट हो मारन-उच्चाटन, मोहन, व
इत्यादि के चक्कर में पड़ अपने को नष्ट करते हैं ।

रजोगुण

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत् और तम में ठहराव है, नमें गति नहीं है फिर उन्होंने उत्पत्ति कैसे की । उत्पत्ति वाला ुण तो 'रज' है इसलिये कि उसमें चंचलता है और वह चलायमान है बिना क्रिया कोई कार्य हो नहीं सकता और क्रिया शक्ति रजोगुण में है ?

इसका समाधान सुनिये -- हिमालय पर्वत से निकल कर दो पवित्र नदी 'गंगा और यमुना' अपनी-अपनी दिशाओं को बहने लगीं । कई सौ मील तक वह अकेले ही बहीं, फिर एक दिन तीर्थराज प्रयाग में दोनों ने संगम किया । श्वेत और श्याम दोनों जलों ने मिलने के समय खूब ही उथल-पुथल मचाई फिर अपने नाम और रूप बदल 'त्रिवेणी' बनकर बंगाल, बिहार और काशी के प्राणियों को अपने अमृतमय जल से तृप्त करती हुई सागर में विलीन हो गईं ।

त्रिकूट पर्वत

सत् और तम, गंगा और यमुना की धारायें हैं जिस स्थान पर यह दोनों मिलकर एक होती हैं उस संगम को त्रिकूट, त्रिकुटी या त्रिवेणी कहते हैं । यह विज्ञानमय कोश का निचला भाग है । इससे ऊपर के भाग में कारण सृष्टि थी वहाँ से सूक्ष्म का आरम्भ होता है । इसी को 'रजोगुण' का नाम शास्त्रों ने दिया है ।

ब्रह्म की जो शक्ति यहाँ पर व्यापक रहती हुई रचना का कार्य करती रहती है उसी को 'ब्रह्मा' कहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि रजोगुण कोई अलग गुण उत्पन्न न
हुआ, सत और तम की मिलौनी से बना है । चूँकि एक अ
से सत् की धार और दूसरी ओर से तम की धार आकर
दूसरे को टक्कर देती रहती हैं इसीलिए उसमें उथल-पुथल
चंचलता रहती है । इसी को 'ब्रह्माण्डीय मन' व ब्रह्मा क
हैं मनुष्य शरीर में इसका स्थान चोटी और मस्तिष्क (दिम
के बीच में है । साधन करने पर यह सब लीला प्रत्यक्ष दि
देती है ।

गंगा और यमुना का जल कुछ समय तक पर्वत
घाटियों में छुप-छुप के बहता रहता है, फिर प्रकट हुआ
अलग-अलग दो धार बनकर बहा । उसके पश्चात् फिर मि
एक हो गया । इसी प्रकार आनन्दमय कोश में सत् और
अप्रकट रूप से अपना कार्य करते रहते हैं ।

और जहाँ से प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं उसको 'विज्ञा
कोश' कहते हैं । विज्ञानमय कोश का सबसे निचला
मिलौनी अथवा 'रज' का बना हुआ है और बीच का सत्
और ऊपर वाला शुद्ध तम का बना हुआ है ।

सूक्ष्म सृष्टि और मनोमय कोश

जिस प्रकार एक इन्जीनियर किसी बिल्डिंग (मकान
बनाने का नक्शा प्रथम अपने दिमाग में खींचता है फिर
स्थूल बनाकर प्रत्यक्ष दिखाता है, अथवा एक चित्रकार
बनाने से पहले उसके डिज़ाइन को अपने अन्दर बना ले
तब लेखनी उठाता है इसी प्रकार ब्रह्म की रजोगुणी-शक्ति
ब्रह्म ने सूक्ष्म रचना की । यही 'मनोमय कोश' कहला

संतों और योगियों की भाषा में इस स्थान को 'सहस्त्रार व सहस्त्र दल कँवल' कहते हैं । नर शरीर में यह स्थान भूमध्य से कुछ ऊपर पीछे की ओर है, यही मस्तिष्क व (Mind) कहलाता है । दिमाग में जो ला तादाद पर्दे होते हैं उन्हीं को योगियों ने 'दल' के नाम से पुकारा है ।

हृदय

दिमाग में हर किस्म की ताकत छुपी रहती है समय आने पर प्रकट होती है उस (मस्तिष्क) का एक-एक पर्दा, एक-एक ताकत का भण्डार है । इसी मनोमय दुर्ग के भीतर जीवात्मा निवास किया करता है । यह स्थान वास्तव में हृदय देश कहलाता है । इसी जगह मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार आत्मा के साथ रह कर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं ।

यह ब्रह्माण्डीय हृदय है इसी का जब बिम्ब पिण्ड में पड़ता है तो छाती के स्थान पर पिण्डी हृदय बनता है और उसमें पिण्डी मन और पिण्डी बुद्धि इत्यादि निवास करते हैं ।

जिस प्रकार वायसराय हैडक्वाटर शिमला और देहली में रहता था उसी प्रकार जीवात्मा की बैठक अधिकतर इन्हीं दोनों स्थानों में रहती है यह मनोमय कोश का वृतांत है ।

इस प्रकार एक ही चैतन्य ज्योति पर तीन पर्दे आ गये । पहिला पर्दा आनन्द का, दूसरा ज्ञान का तीसरा विचार तथा संकल्प-विकल्प (ख्यालात) का आया ।

आनन्दमय कोश के प्राणियों की दशा

लैम्प की ज्योति अपना निर्मल प्रकाश लिए जगमगा रही

थी उस पर श्याम रंग का शीशा (Globe) चढ़ा दिया
ज्योति उसी दिशा में रही, उसका न कुछ बिगड़ा और न
परन्तु अब उसमें श्यामलात का भास होने लगा । देखने
इस शीतल और मधुर प्रकाश में मुग्ध हुए झूमने लगे
आनन्दमयी वारुणी (शराब) पान करने लगे ।

पतंगे जिस प्रकार लैम्प की ज्योति को ही अ
प्राणाधार और प्रेम पात्र समझ उससे आलिंगन करने के
चारों ओर से आकर इकट्ठे हो जाते हैं परन्तु शीशे के क
वहाँ तक नहीं पहुँच पाते इसी तरह आनन्दमय कोश के
प्रेम पाश में बँधे हुए आनन्द से टकराया करते हैं वह अ
वस्तु तक पहुँचना चाहते हैं परन्तु कोई चीज बीच में रुक
डालती है । बेचारे रोते हैं, चिल्लाते हैं, तड़पते हैं ले
मजबूर हैं ।

हाँ ! कोई-कोई दिलजले, बिरहाग्नि के सताये हुए
प्राणों की बाजी भी लगाने को तैयार हो जाते हैं और
को कुरबान कर देते हैं, इस मार्ग में मर मिटते हैं उनके
रास्ता सुगम हो जाता है, उनका बन्धन कट जाता है और
सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर पर्दे के भीतर बैठे हुए अपने दि
से जा चिपटते हैं और हमेशा के लिए एक हो रहते हैं

श्यामलता की छटा चारों ओर छिटक रही थी, वं
मधुर तान (प्रणव) हृदय को वेध रही थी, घनघोर घटा
रिमझिम-रिमझिम अमृत की फुआर बरस रही थी, शान्ति
समीर के झोंके मन को मुग्ध कर रहे थे, प्यारे प्रीतम दूर
खड़े मुस्करा रहे थे । उन तक कैसे पहुँचे, उनको किस
आलिंगन कर सकें, उनको गले से लगा के अपने हृदय

तपन किस तरह बुझा सकें ? सिवाय इस एक चिन्ता के वहाँ न कोई और ख्याल है और न कोई दूसरा नाम है । गोपिकाओं की जो दशा कृष्ण के लिए थी वही यहाँ के प्राणियों की रहती है । श्रीस्वामी सूरदास जी ने अपने एक पद में यहाँ का नक्शा कितना अच्छा खींचा है --

पद

राधे भूलि रही अनुराग ।
तरु-तरु रुदन करत मुरझानी, ढूँढि फिरी बन बाग ॥१॥
कुंवर ग्रसित श्रीखण्ड अहित भ्रम, चरण शिलीमुख लाग ।
वाणी मधुर जानि पिक बोलत, कदम करारत काग ॥२॥
कर पल्लव किसलय कुसुमाकर, जानि ग्रसित भये कीर ।
राका चन्द्र चकोर जान कै, पिवत नैन को नीर ॥३॥
व्याकुल दशा देख जग जीवन, प्रगट भये तिहि काल ।
"सूर श्याम" हित प्रेम अंकुर, उल लाइ लई भुजाल ॥४॥

यह तो हुआ आनन्दमय का एक दृश्य, अब आगे विज्ञानमय कोश का वृतान्त सुनिये --

विज्ञानमय कोश

पर्दा बदला, लालटैन पर किसी ने कुछ-कुछ हरियाई लिये हुए सफेद शीशे चढ़ा दिया । पहिला प्रकाश छुप गया, मदहोशी जाती रही । अपने पराये का ज्ञान होने लगा, शुष्कता आ गई, अभी तक जिस रस का जिह्वा पान कर रही थी न मालूम कहाँ चला गया, वह मन मोहिनी प्यारी छवि किस पर्दे में अन्तर्ध्यान हो गई ? इस प्रकार विवेक और विचारों की लड़ियों ने परेशान कर दिया ।

अब न वह आनन्द है न वह शान्ति है । हाँ ! अ
क्या था और अब क्या हो गया । वह आनन्दमयी अवस्
हमसे किसने छीन ली ? हम कहाँ भटक गये, वह स्थान क
छूट गया ? अभी-अभी आनन्द धाम में बैठे हुए शान्ति
मधुर फल चख खुश हो रहे थे, अब यहाँ शुष्क रेगिस्तान
आ पड़े, कैसे आ गये, किसने उस लोक से हमको यहाँ पहुँ
दिया, भाई ! सोचो-विचारो, उस अपूर्व शोभायमान हृदय-ग्रा
ज्योति को किसने छुपा दिया, ऐसी कौन शक्ति है जिसने हम
धक्का दिया है, और इस दुर्दशा में फँसाया है, यह प्रश्न उठ
लगा ।

विचार और विवेक की फुरना

विचार होने लगे, तर्क द्वारा उसका निर्णय किया जा
लगा, समझदार तत्वों में उसको खोजने लगे । कोई-कोई मू
चिल्लाने लगे कि वह हमारा ही प्रकाश था, जिसेतुम देख र
थे, वह हमीं थे । अजी ! हमीं नहीं थे बल्कि तुम्हीं थे ।

उत्तर देने वाले भी विकट होते हैं बोले -- जब आप ह
ब्रह्म थे और वह सब लीला आप ही की थी तो फिर अ
आपकी शक्ति कहाँ चली गई, आइये और हम लोगों को इ
विपत्ति से निकालिये और वही पहिला दृश्य दिखाइये ।

भला अल्पज्ञ प्राणी में वह सामर्थ्य कहाँ से आई । हा
मान के चुप हो गये । कई मूढ़ तो विचारानन्द में ही ऐसे डू
कि अपने कर्त्तव्य को भूल बैठे और उसी को सब कुछ समझ
लगे ।

ब्राह्मण व ऋषि

खोजो, खोजो ! ढूँढ़ो, ढूँढ़ो ! वह अमृत नद किधर गया, आहा ! कितना मधुर जल था । कितना शान्तिमयी मनहरणहारी वहाँ की समीर थी । चारों ओर को लोग दौड़ पड़े । तलाश करने लगे । कई लोग भाग्य से अथवा भगवान की दया से उधर को ही चलने लगे कि जहाँ आत्मानन्द की पवित्र धारा कल-कल नाद (प्रणव की गुञ्जार) करती हुई प्रवाहित हो रही थी । कठिन परिश्रम (तप) के द्वारा प्राप्त हुई उस आकाश गंगा में उन प्राणियों ने मज्जन कर अपने को सन्तुष्ट किया तथा उस मधुर पीयूष को पी अपनी तपन को हमेशा के लिये बुझा लिया । यह सब "ब्राह्मणवर्ग" बना । इसी वर्ग ने दूसरों को मार्ग दिखाया ।

मनोमय कोश

शेष जीव, इधर-उधर टक्करें मारने लगे । सुख की चाहना रखते हुए भी दुःख उठाने लगे । हृदय की एक शक्ति बोली -- इधर चलो । दूसरी ने कहा -- नहीं, उधर चलो । वह कुछ निर्णय नहीं कर सकते । कभी इधर आते हैं और कभी दूसरी ताकत उनको दूसरी ओर के लिये धक्का दे देती है और इसी उथल-पुथल में उनका सारा समय नष्ट होने लगा । संकप्ल-विकल्प की शक्ति उनको चक्र पर बैठी हुई चिड़िया की तरह घुमाने लगी और वह भ्रम में पड़े हुए विवशता के साथ घूमते हुए कष्ट झेलने लगे । न इधर के हुए न उधर के । कभी उधर दौड़ते कभी उधर । कभी इस वस्तु में उसी आनन्द को तलाश करते हैं कभी उसमें । यदि एक ओस का कण कहीं

दिखाई दिया तो झट मुँह फाड़ के जुबान उससे लगा दी । यदि कहीं पर जरा सी भी ठण्डी हवा का झोंका आता हुआ मालूम पड़ा बस यकीन कर लिया कि यहाँ ही आनन्द है और आसन लगा के वहीं डट गये और आनन्द का इन्तजार करने लगे ।

थोड़ी देर में ही सूर्य की किरणों ने ओस कण को चाट लिया, हवा को गरम कर दिया, तब फिर वहाँ से भागे और दूसरी जगह पहुँचे । इस तरह हैरान और परेशान सांसारिक प्राणी सुख और आनन्द के लिये भटकते फिरते हैं और उसको विषयों में ढूँढ़ते हैं ।

सुख शान्ति का रास्ता पीछे रह गया । हमारा मुँह दूसरी ओर को है । हम उस परम धाम की ओर से पीठ किये चले जा रहे हैं । जिन वस्तुओं में वह है नहीं, उनमें अपने भ्रम वश उसे खोजते फिर रहे हैं और फिर कहते हैं कि सुख चाहते हुए और इसके लिये प्रयत्न करते हुए भी हम दुःख क्यों भोगते हैं ? भला इस मूर्खता का क्या ठिकाना है ?

प्राणमय कोश

प्रथम हमको अपने अस्तित्व का भान हुआ, खूब आनन्द आया यह "आनन्दमय कोश" बन गया । फिर ज्ञान की फुरना हुई । विवेक और विचार उत्पन्न हुए । सोचने-समझने की शक्ति जागृत हुई उसी समय आत्मा के ऊपर दूसरा गिलाफ "विज्ञान" का चढ़ गया यह दूसरा स्थान "विज्ञान कोश" बना । आगे चलकर संकल्प-विकल्प तथा इच्छा शक्ति ने अपना रूप प्रकट किया । नई-नई इच्छाओं ने जोर पकड़ा । तलाश सुख और आनन्द की थी । इच्छाएँ कहने लगीं -- इसमें है, उसमें है । हम

इच्छा के वशीभूत हुए वहाँ ढूँढ़ने लगे । हृदय की एक शक्ति ने नये-नये प्रस्ताव (रैज्यूलेशन) पेश किये 'इस तरह करो, उस तरह करो ।' यह मन बन गया कि जिसका नाम 'मनोमय कोश' पड़ा ।

ख्यालात की इस ग्रन्थि ने धक्का दिया और हम आगे को चल पड़े । हरकत करने लगे । बस हमारे जीवन का आरम्भ हो गया । हमारे अन्दर जिन्दगी आ गई । इस जीवन शक्ति ने एक और नवीन आवरण हमारे ऊपर डाला और इसको 'प्राणमय कोश' कहने लगे ।

अन्नमय कोश

संसार स्थूल बन चुका था, स्थूल वस्तु को पकड़ने तथा उसमें खोजने के लिये स्थूल औजारों की आवश्यकता प्रतीत हुई, सूक्ष्म से काम नहीं चला । इसलिये इच्छा शक्ति के सहारे हमने अपने ऊपर स्थूल परमाणु चढ़ाने शुरू कर दिये और थोड़े दिन में अपनी सारी इन्द्रियों तथा शरीर को स्थूल बना डाला और इसका नाम 'अन्नमय कोश' रखा । इस प्रकार निर्मल, शुद्ध और चैतन्यात्मा पाँच शरीर में बद्ध हो गया । शास्त्रों ने इनके तीन विभाग कर दिये -- १. कारण, २. सूक्ष्म और ३. स्थूल ।

मानसिक शक्ति

सुख और शान्ति की वासना ने मनोमय कोश में हमको कैद कर लिया है और हम इच्छाओं के सहारे घूमने लगे । मन की शक्ति सूक्ष्म को ही नहीं -- स्थूल को भी घुमाने लगी और हम विवशता के साथ उस स्थान में चक्कर काटने लगे कि जहाँ

पर हमारी इच्छित वस्तु 'शान्ति और सुख' का कहीं कोसों
नहीं है ।

हम दूसरों से सुन रहे हैं कि इस चटियल मैदान में दु
के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यहाँ की प्रत्येक वस्तु दुःखदायी
आनन्द का मार्ग तुम से छूट गया है और यह रात दिन ह
अनुभव में भी आता है । हम खूब जान रहे हैं परन्तु मन
हमको ऐसा दबोच रखा है कि हम सिर नहीं उभार सकते
चाहते हैं कि दूसरी ओर चलें ण्रन्तु उसके सम्मुख हमारा
नहीं चलता और दुःख और क्लेश भोगते हुए भी उन्हीं क
को किये जाते हैं कि जो हमारे लिये दुःखदायी प्रतीत हो
हैं । गिरते-पड़ते, मरते-जन्मते इसी गोला मण्डल में फँसे
समय नष्ट कर रहे हैं और इसीलिये दुःखी हैं ।

मनोराज्य

मन के स्याह शीशे ने आत्मा के प्रकाश को छुपा दिय
सत्यता की झलक ओझल हो गई । अब जो कुछ सम्मुख है
'मन' है और उसकी सेना । अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं
वृत्तियों की सहायता से मन ने इन्द्रियों पर अधिकार जमाया
और वह उसकी आज्ञानुसार चलने लगीं । आत्मा-रथ
सवार होकर किसी दूसरी ओर जाने की तैयारी कर रही
मन ने घोड़ों की बागडोर पकड़ ली और अपनी इच्छानुसार
रथ को घुमाने लगा और आत्मा विवश हुई घूमने लगी
चाहती थी कि उधर को न जाय मगर मजबूरी सब कुछ क
रही थी । मन को हुक्म देती है, इन्द्रियों को अपनी आज्ञा
चलाना चाहती है परन्तु उसकी कौन सुनता है । फौज
कमाण्डर (नायक) बलवान बन चुका था, सारी सेना उसकी

चुकी थी अब इसकी कौन सुनने वाला था । जिन मन्त्रियों पर भरोसा था, जिनके द्वारा वह अपने राज-पाट का सुख भोगना चाहता था वह स्वतन्त्र हो गये हैं और कष्ट पर कष्ट पहुँचा रहे हैं। बस ! यही दुःख का कारण है ।

श्रीगुरुदेव

ऊपर जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह हमारा अपना विचार है, हमारा अनुभव है, आगे इसकी बात को एक पूर्ण अनुभवी समर्थ सद्गुरु के शब्दों में समझाते हैं । विषय अत्यन्त गहन है, जहाँ तक हो सका है हमने उसको सरलता के साँचे में ढालने का उद्योग किया है परन्तु फिर भी पाठकों को पूर्ण ध्यान-पूर्वक इसको पढ़ना होगा, बारम्बार इस पर मनन करना होगा तब यह बात उनकी समझ में आ सकेगी । योग और वियोग का सिद्धान्त इसके समझने पर ही उनकी समझ में आ सकेगा इसीलिए यहाँ पर इसके बतलाने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है । सुनिये --

आत्मा और प्रकृति

सांख्य फिलासफी में हमको दो नाम मिलते हैं, एक पुरुष और दूसरी प्रकृति । पुरुष आत्मा का नाम है, यह चैतन्य है, सत् है, जात हकीकत है । प्रकृति जड़ है, चैतन्य आत्मा का गुण है, उसकी शक्ति है, जगत के बनाने का मसाला (matter) है ।

पुरुष एक है और प्रकृति भी एक है । परन्तु जहाँ एक होगा वहाँ अनेक भी होगा । बिना अनेक के एक ही नहीं हो सकता इस सृष्टि से आत्मा व पुरुष एक होता हुआ भी अनेक है और अनेक होता हुआ भी एक है ।

यही दशा प्रकृति की भी समझो, वह एक होती हुई
अनेक रूप से भासती है । गुण-गुणी से अलग नहीं होत
जात के साथ सिफात भी शामिल रहती है । शक्ति या त
शक्तिवान (ताकतवर) से जुदा नहीं होती, इस हिसाब से
और प्रकृति एक भी हैं और दो भी हैं ।

अद्वैत और द्वैत

जिस समय प्रकृति व शक्ति सिमट कर अपने भ
चैतन्य आत्मा में समा जाती है और बाहर निकल
व्याहारिक दृष्टि से कोई काम नहीं करती तब तक उ
'अद्वैत' कहा जाता है । और जब वही मूल प्रकृति प्रकट ह
रचना के कार्य को करने लगती है तब आत्मा और प्रकृति
होने के कारण द्वैत बोला जाता है, बस ! इतना ही द्वैत
अद्वैत का भेद है ।

आदम और हव्वा

रचना व उत्पत्ति बिना दो के नहीं हो सकती इस
इसको यों समझना चाहिए कि उसी एक ने दो रूप धारण
लिये । एक का नाम परमात्मा और दूसरी का प्रकृति हो ग
इन्हीं को आदम और हव्वा के नाम से ईसाई और मुस
अपनी धर्म पुस्तकों में वर्णन करते हैं । एक रूह है
माद्दा है । एक जात है दूसरी सिफात है ।

आत्मा और परमात्मा

जिस प्रकार ताकतवर के सहारे ताकत रहती है,
सूरज के आधार पर सूरज की किरणें रहती हैं उसी
परमात्मा के आधार पर रहती हुई प्रकृति अपना खेल
करती है । यही उसका अधिष्ठान है ।

यद्यपि परमात्मा निर्विकार, शान्त और एक रस रहने ला है परन्तु रचना के समय उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और ही उसका क्षोभ व motion सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है ।

जिस तरह समुद्र और समुद्र की लहरें, रेगिस्तान और गिस्तान के जर्रे (परमाणु) और जंगल तथा जंगल के वृक्ष लग भी हैं और एक भी हैं उसी प्रकार आत्मायें अंशा-अंशी ाव लिए परमात्मा में व्यापक रहती हैं । इन्हीं सब आत्माओं ी मिलौनी का नाम अथवा इनकी मजमुई हालत का नाम रमात्मा है ।

माला के दाने अलग-अलग बखेर दो, उसका नाम माला रहेगा, और उसको सूत के धागे में गूँथ लो तब वह माला कहलाने लगेगी, इसी प्रकार सारी चैतन्य-आत्माओं को मिलाकर क कर देने पर जो एक बहुत बड़ा चैतन्य सरकिल बन जाता है उसको 'परमात्मा' कहा जाता है । इसी को सगुण कहते हैं । इसी प्रकार ब्रह्म द्वैत भी है और अद्वैत भी है ।

द्वैत और अद्वैत से परे

ब्रह्म की एक और अवस्था भी रहती है जो इन झगड़ों से अलग होती है, उसमें यह अंशा-अंशी सम्बन्ध नहीं होता । इस निर्विकार-निर्द्वन्द अवस्था को सत्, तत्व, अनाम, अगम और अगोचर कहते हैं । सन्तों और ज्ञानियों का इष्ट यही है, यही असली कैवल्य है । यही मुक्ति व निर्वाण है । ब्रह्म की ओर अवस्थायें माया के भीतर हैं और यह सब के परे है । जो पंथ व सम्प्रदाय निचले स्थानों को ही आदर्श मान वहाँ तक ही चढ़ाई कर सन्तुष्ट हो बैठते हैं वह बीच में रह जाते हैं उनको अन्तिम पद नहीं प्राप्त होगा और जो इस स्थान को आईडियल

मान बराबर आगे बढ़ते रहते हैं और यहां तक पहुँच ज
वह अपना मनुष्य जीवन सफल कर कल्याण को प्राप्त
हैं । बस ! इस असली भण्डार तक पहुंचने, और
मिलाप कर एक हो रहने की जो क्रियायें तथा साधन हैं
ही नाम 'योग' है ।

दृष्टान्त

आकाश तत्व -- अब इसको दृष्टान्त से समझि
पंचभूतों, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में अ
तत्व ही सबसे सूक्ष्म और पहिला तत्व है । इसको शा
सर्व व्यापक मानते हैं । यह प्रत्येक पदार्थ के अन्दर भी
है और बाहर भी ।

इस आकाश तत्व का एक सरकिल है जो सबसे
और अति सूक्ष्म है । इस सरकिल के दो भाग हैं । एक
वह है कि जिसमें केवल आकाश ही आकाश है और
तत्व के परमाणु वहाँ नहीं पाये जाते और दूसरा भाग
कि जिसमें आकाश के साथ-साथ वायु तत्व के अंश भी
हैं ।

यह वायु किसी दूसरी जगह से नहीं आयी । प्रकृ
दो धारों पाजेटिव और नेगेटिव ने जिनका वर्णन हम पी
आये हैं, इस आकाश तत्व को मथ कर उसमें से वायु
कर दी । इस प्रकार वायु ने अब अपना एक सरकिल ब
आकाश खालिस ऊपर रह गया और वायु मिश्रित
नीचे हो गया । यह वायु आकाश का ही दूसरा रूप

वायु तत्व -- इसी प्रकार इस वायु ने भी
बनाये । ऊपर के स्थान पर तो वायु खालिस रहा औ

भाग में प्रकृति की उन्हीं प्राण और अपान शक्तियों ने मैथुन र और वहाँ के परमाणुओं को टक्कर देकर, अग्नि तत्व त्पन्न कर दिया । यहाँ दूसरे भाग में वायु से मिश्रित तत्व ा खेल हो रहा है और अग्नि वायु की ही बदली हुई दूसरी ाकल है ।

अग्नि तत्व -- इस अग्नि मण्डल के भी दो भाग हैं । ्क वह जहाँ अग्नि ही अग्नि है और दूसरा वह जिनमें अग्नि ़ परमाणु सत और तम की शक्तियों के सहारे आपस में ़कराते, मिलते-जुलते और मैथुन करते हुये जल का रूप धारण ़र लेते हैं यह जल अग्नि का ही दूसरा रूप है, परन्तु उस ्थान से अलग है कि जो खालिस अग्नि का है ।

जल तत्व -- इसी प्रकार जल मण्डल पर विचार करो, एक भाग इस मण्डल का वह है जहाँ जल ही जल के परमाणु पाये जाते हैं और दूसरा निचला उसका वह भाग है जहाँ जल प्रकृति रूप प्राण और इसी के सहारे पृथ्वी तत्व बन रहा है । यह भाग उसी जल का दूसरा रूप है । बस इस प्रकार पाँच तत्व एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं और प्रत्येक तत्व अपने दो-दो मण्डल बनाये यहाँ स्थिर है । एक निरालम्ब मण्डल और दूसरा जिसमें परमाणुओं का मैथुन हो रहा है ।

पृथ्वी तत्व -- पृथ्वी तत्व के भी दो मण्डल हैं एक जिसमें पृथ्वी के सूक्ष्म परमाणु रहते हैं और दूसरा वह जिसमें स्थूल दृष्टिगोचर होते हैं ।

बिल्कुल इसी तरह परमात्मा या ब्रह्म के भी दो मण्डल हैं एक वह जिसमें वह निरालम्ब, निर्विकार और निर्गुण रूप से

अधिष्ठान मात्र है और दूसरा वह जिसमें सगुण रूप धारण
अनन्त आत्माओं को अंशा-अंशी भाव से धारण किये हुए
और समुद्र की लहरों की मिलौनी का नक्शा बना रहा

जीव ईश्वर भेद

परमात्मा-क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से मु
और जीवात्मा में यह सब रहते हैं यही इन दोनों का भे
जीव को क्लेश (दुःख) होता है, विपाक अर्थात् तबदील
उसमें होती है जैसे बचपन व जवानी और बुढ़ापा इत्यादि
आशय के अर्थ इच्छा व ख्वाहिश के हैं कि जिसमें जीव
रहता है।

यह सब संक्षेप में परमात्मा व ब्रह्म का वर्णन
आगे प्रकृति का हाल लिखते हैं --

आद्याशक्ति, प्रकृति व मैटर

व्याकरण से प्रकृति का अर्थ 'प्रथम-क्रिया' होता है
फिलासफी में प्रकृति एक पारिभाषिक शब्द है कि जिस
अनेक हैं। माया, शक्ति, दुर्गा, आद्याशक्ति इत्यादि इ
कहते हैं। संसार में यह प्रकृति ही अनेक रूप धार
अपना अलौकिक खेल किया करती है। जिस प्रकार अ
की मिलौनी से परमात्मा बनता है, अथवा आत्मायें अं
भाव से पूर्ण भण्डार परमात्मा में निवास करती है उसी
सृष्टि की रचना का जो सामान (Matter) है एवं जिन
द्वारा इस दृश्य जगत को बनाया जाता है वह सब मिल
वस्तु बनाते हैं कि जिसको 'प्रकृति' कहते हैं।

जिस प्रकार परमात्मा अगम और अगोचर -- अ

है, उसी प्रकार यह आदि-शक्ति प्रकृति भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, दृश्य न आने वाली एक वस्तु है । इसका अपना कोई रूप नहीं है, केवल आत्मा का सहारा लेकर अपना रूप धारण कर लेती है और उस समय प्रत्यक्ष भासने लगती है । कारण, सूक्ष्म और स्थूल से इस प्रकृति के तीन भेद हो जाते हैं । आत्मा से सम्बन्ध जोड़ के और उसके साथ मैथुन करके यह अनेक रूप वाली बन प्रकट होती है और अपने खेल दिखाने लगती है ।

यह महा शक्तिशालिनी जगत्-जननी महामाया कहाँ तक अपना पसारा फैलाती है, कितने विस्तार तक अपने इस काम को ले जाती है, इसका निर्णय आज तक कोई नहीं कर सका । अनन्त यानी बेशुमार ब्रह्माण्ड हैं कि जिनमें व्यापक होकर उनका संचालन करती है और असंख्य प्राणियों को नाम और रूप की उपाधि में बाँधकर खिलाती है । अनन्त सूर्य -- चन्द्रमा और नक्षत्रों की रचना कर उनको घुमाती है और उनके द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड का कार्य चलाती है ।

इस जगदीश्वरी माता के कार्यों की आलोचना करना कठिन है । देवगण बीच ही में लटके रहे योगियों और सन्तों ने भानुमती का तमाशा कहकर टाल दिया, ज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण अनिवर्चनीय कहते हुए चुप हो गये । ऋषि और महर्षियों ने 'नेति-नेति' कहकर अपना पीछा छुड़ा लिया । तात्पर्य यह है कि मानव बुद्धि ही नहीं बल्कि देव बुद्धि और ऋद्धि-सिद्धि-बुद्धि भी इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में हार मान बैठी और पीछे हट गई ।

ज्ञान और योग के आचार्यों ने अपनी फिलासफी समझाने की गरज से अपने-अपने शब्दों में प्रकृति के उन पाँच पर्दों व

पाँच सरकिलों का वर्णन किया है कि जो आत्माओं पर एक ऊपर एक गिलाफ बनके चढ़े हुए हैं। शास्त्रों ने इनको 'को कहा है, उपनिषदों ने मण्डल व दायरा नाम देकर इन्हीं पुकारा है।

योग साधना

इन पर्दों (आवरण) को हटा देना तथा इन गिलाफों फाड़ देना और आत्म-साक्षात्कार कर लेना ही योग और का मुख्य तात्पर्य है और जो-जो प्रयत्न तथा क्रियायें इस के करने के लिये मनुष्य को करनी होती हैं, वही योग स कहलाते हैं।

कोशों की उत्पत्ति

हम ऊपर बता आये हैं कि प्रकृति आत्मा के सहारे उससे सम्बन्ध जोड़ के ही प्रगट रूप धारण करती है। प्र वह महा कारण अवस्था में दर्शन देती है और फिर क बनती है उसके पश्चात् सूक्ष्म और फिर स्थूल बन जाती

महत्तत्व व बुद्धि

हमने पुरुष और प्रकृति अथवा ब्रह्म और माया के से दो नाम बतलाये हैं। इनमें से पुरुष व आत्मा-ब्रह्म चै और प्रकाशवान है और दूसरी माया अंधकारमयी, सूक्ष्म जड़ है। यह सूक्ष्म माया चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्ब प्रकाशित हो जाती है। जैसे रात्रि के समय वायु-मण्डल अग्नि और पृथ्वी के परमाणुओं को अपने अन्दर धारण हुए भी अन्धकारमय हो जाता है, किसी को दिखायी नहीं और प्रातःकाल सूर्य का उसमें बिम्ब पड़ने से सारा च लगता है और तरह-तरह के रंग दिखाता है, उसी प्रकार

के मंडल में ज्योति स्वरूप आत्मा के बिम्ब पड़ने से उसका एक भाग चमकने लगता है और वहाँ के प्राणियों को दिखाई देने लगता है। यह प्रथम रूप व पहली शक्ल जो आत्मा के बिम्ब पड़ने तथा सम्मुख आने पर बनती है उसको शास्त्रकारों ने 'विज्ञान' व 'बुद्धितत्व' कहा है।

विज्ञानमय आत्मा

इस तरह बुद्धि तत्व की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति देवी का प्रथम रूप हुआ। इस प्रथम रूप में जब आत्मा प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि व विज्ञान को प्रगट करता है तब आत्मा के उस अंश को जो बुद्धि तत्व के मिलान से बना है -- 'विज्ञान मय आत्मा' कहलाने लगते हैं। यह आत्मा का प्रथम आवरण व पहिला रूप है जिसको बुद्धि गिलाफ बना कर घेर लेती है और 'विज्ञानमय कोश' का नाम पाती है।

विज्ञानमय कोश व कारण सृष्टि

एक ही आत्मा के अन्तर्गत बीज रूप से इस स्थान पर अनन्त आत्मायें विज्ञानमय शरीर धारण कर अपना रूप प्रकट करती हैं। आगे चलकर यही आत्मा सूक्ष्म और फिर स्थूल बन जाती है। इन बेतादाद आत्माओं के सूक्ष्म और स्थूल बनने के लिए जिन जिन सामानों की आवश्यकता होगी वह भी सब बीज रूप से यहाँ प्रगट हो जाते हैं। इसी को 'कारण सृष्टि' कहते हैं।

मनोमय आत्मा व सूक्ष्म सृष्टि

सोचने-समझने तथा विचार करने की शक्ति का नाम बुद्धि है यह प्रगट हो गई और आत्मायें इसमें बँध गईं, उनमें क्रिया और विचार आ गया अब वह आगे चले। प्रकृति के

निचले भाग पर इसी विज्ञानमय ने अपना बिम्ब डाला
वह प्रकाशित हो उठा । प्रकृति के इस भाग का नाम 'मन
कोश' हो गया और उसमें निवास करने वाली आत्मा 'मन
आत्मा' कहलाई । यह दूसरा गिलाफ मनन करने व संक
विकल्प का बन गया । इसी का नाम मन है । ऊपर
आत्मायें इस नये प्रकाश को देखकर मुग्ध हो गईं और
अपने पहले स्थान विज्ञानमय कोश से नीचे इस स्थान में
आईं और यहाँ आकर अपने ऊपर एक नया गिलाफ मन
और चढ़ा लिया । अभी तक वह कारण अवस्था में थी
आकर 'सूक्ष्म' बन गई ।

प्राणमय आत्मा और प्राणमय कोश

बुद्धि में कुछ न कुछ शान्ति और ठहराव था, अ
उथल-पुथल नहीं थी परन्तु मन ऐसा नहीं है वह हर स
चलायमान रहता है, वह बड़े वेग से आत्मायों को धक्का
रहता है और नीचे की ओर ढकेलता रहता है । उसने पूर्ण
से आत्मा को ही नहीं बल्कि बुद्धि को भी एक झटका
और आत्मा अपने साथ बुद्धि और मन को लेकर प्रकृति
तृतीय भाग पर अपना प्रकाश डालने लगी और वह नये
और रूप लो लिए हुए प्रकाशित हो गया इस भाग का
प्राण हुआ । यही प्राणमय कोश बना और इस स्थान
आत्मा को 'प्राणमय आत्मा' कहने लगे ।

इस प्राणमय आत्मा की छटा को देखकर अन्य आत
भी नीचे खिसकी और अपने पिछले दो पर्दों को लपेटे हुए
स्थान पर आकर फँस गईं और अपने ऊपर एक ती
गिलाफ 'प्राण' चढ़ा लिया । यह प्राण का आवरण न तो
है और न स्थूल है, दोनों की मिलौनी है ।

अन्नमय आत्मा और अन्नमय कोश

प्राण जीवन को कहते हैं । जीवन मिलने पर आत्माओं ो अन्न की इच्छा उत्पन्न होने लगी क्योंकि जीवन अन्न के ाधीन है, कहते हैं -- 'अन्नमय प्राण' । आत्मा ने इस इच्छा ो लिए हुए और अपने ऊपर बुद्धि, मन तथा प्राण का ोलाफ चढ़ाये हुए प्रकृति के सबसे निचले भाग पर बिम्ब ाला और उस स्थूल भाग को भी प्रकाशित कर दिया । यही अन्नमय कोश' बना । आत्माओं ने इस स्थूल आवरण को अपने ऊपर चढ़ा लिया और 'अन्नमय-आत्मा' नाम पाया । इस स्थान की आत्मायें शरीर धारी बनकर सबको दिखाई देने लगीं । यही स्थूल सृष्टि है । यहाँ के प्राणी अन्न को ही अपने जीवन का आधार मानते हैं इसलिए इसको अन्नमय कोश कहते हैं । अन्न से तात्पर्य उस वस्तु से है जो भक्षण की जाती है व खाई जाती है ।

आनंदमय कोश वा महाकारण-अवस्था

ऊपर विज्ञान मन, प्राण और अन्न का वर्णन हो चुका है अब शास्त्रों के पंच कोशों में से एक शेष रहता है कि जिसको 'आनन्दमय कोश' कहा जाता है । हमने इसको सबके अन्त में इसलिए रक्खा है कि यह कोश कहलाता हुआ भी कोश वा पर्दा नहीं है अथवा यों कहो कि नहीं के बराबर है, परन्तु कारण मात्र है । झीना होने के कारण यह आत्मा को ढक नहीं सका । यहाँ पर आत्मा अपने निज रूप में निर्विकार रहती हुई शुद्ध आनन्द का रस पान करती है और बस ।

शरीर वा कोश

इस प्रकार आत्मा पर पाँच कोश आ जाते हैं इन्
शरीर कहा जाता है। यह सूक्ष्म, स्थूल और कारण भे
शास्त्रों ने तीन प्रकार के माने हैं। स्थूल शरीर अन्न से
है और जाग्रत में उसका ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरी
चक्षुओं से दिखाई नहीं देता केवल विचार और अनुम
उसको जाना जाता है। स्वप्नावस्था में यही शरीर काम
है कारण शरीर बीज मात्र है। न दिखाई देता है, न अ
में आता है सुषुप्ति अवस्था में इसका अस्तित्व भासता
कारण शरीर केवल सूक्ष्म ज्ञान का शरीर होता है, स्मृति
उस समय काम करती रहती है इसीलिये वह जाग्रत में
उस अवस्था का परिचय तथा साक्षी देती है। समाधि अ
में जो शब्द या रूप का अनुभव होता है वह इसी स्मृति
को होता है।

ईश्वर वा सबल ब्रह्म

अन्नमय जीवों के ऊपर पाँच गिलाफ रहते हैं। प्रा
के ऊपर चार, मनोमय प्राणियों के ऊपर तीन और विज्ञा
वाली आत्माओं के ऊपर दो पर्दे रहते हैं और आनन्दमय
से ढका हुआ जो जीव होता है उसको जीव नहीं कहते
आनन्दमय आत्मा वा ब्रह्म के साथ अभेद बनकर रह
इसलिये उसको 'ईश्वर वा सबल ब्रह्म' कहा जाता है
अपने रूप में स्वरूपवान, अपने प्रकाश में प्रकाशवान
अपनी सत्ता में सत्तावान रहता है। इस प्रकार
आनन्दमय आत्माओं से मिलकर एक शक्ति बनती है जि
'परमात्मा' कहते हैं। इससे ऊपर एक आनन्द का ऐसा
पर्दा रहता है जिसको हम 'पर्दा या कोश' भी नहीं कह स

व्यक्त और अव्यक्त

अब इसको फिर समझो -- प्रधान व अव्यक्त प्रकृति में आत्मा का अक्स या बिम्ब पड़ते ही प्रकृति व्यक्त हो जाती है, उसकी सत्ता का भाव प्रकट होता है । यही सत्ता प्रकृति में बिम्बित होकर फिर आत्मा की ओर लौटती है । इस लौटी हुई धार का नाम 'वृत्ति' है । बस यही धार आत्मा को अपने अन्दर लपेट कर पर्दा वा कोश बना जाती है और अंश आत्मा पर अपना प्रभाव डालती है इन दोनों के सम्मेलन से एक प्रकार का आनन्द प्रकट होता है, बस यही आनन्द पहला सार है जो अव्यक्त प्रकृति में आत्मा के बिम्ब पड़ने से पैदा होता है ।

दृष्टान्त

इसको दृष्टान्त से समझो -- विषय गहन है । किसी मनुष्य के सम्मुख एक दर्पण या आईना रक्खा है । उसका अक्स उस आइने में पड़ा । अब तक आइने में कोई सूरत-शक्ल नहीं थी, उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं थी, वह जड़ था । चैतन्य प्राणी ने अपना बिम्ब उस पर फैंका । दृष्टि की धार उससे टकरा के लौटी और उसके द्वारा मनुष्य को अपने जैसा ही एक दूसरा रूप भासने लगा । अब तक उसको अपना भी ज्ञान नहीं था, आईने के द्वारा उसे अपने रूप का ज्ञान हुआ । देखते-देखते वह भ्रम में पड़ गया, उसको असल समझने लगा तथा उसको देख-देख के आनन्द लेने लगा । यह आनन्द उस बिम्ब में नहीं था, इसके अपने अन्दर ही था, परन्तु यह अंश आत्मा भूल से समझने लगा कि इसी की ओर से आ रहा है । बस यह उसका प्रथम गिलाफ है इसी को आनन्दमय कोश कहते हैं ।

इस आईने वाली शक्ल का अक्स एक दूसरे आईने पर

पड़ा । मनुष्य ने पहले को छोड़ दिया और आनन्द की
इसमें करने लगा । बस ! इतना करते ही फौरन बुद्धि य
ने प्रगट होकर उसे लपेट लिया और आनन्द की वृत्ति क
दिया । जैसे दर्पण को अधिक देर तक देखने पर खुश
जाती है इसी प्रकार इसका हाल हुआ, आनन्द जाता रह
यह तड़प गया । यह दूसरा शीशा ही विज्ञानमय
कहलाता है । यहाँ आनन्द छिप जाता है परन्तु उसकी
-- तलाश बाकी रहती है ।

जब वह इस तरह आनन्द की कमी को महसूस
लगता है तब उसकी प्राप्ति की तदबीरों को सोचता, वि
और मनन करता है । यही 'मन' बनकर 'मनोमय को
गया । हमने ऊपर बताया कि वृत्ति आई और आईने
प्रकृति से टकराके फिर लौटी । बस उलट-फेर ने उसकी द
कर दीं जो कि मनन करने पर प्रगट होकर बहने लगीं
'प्राण' बना । और प्राण और अपान दो नाम उसके हो
इन दो धारों ने आत्मा को फिर लपेटा इसी को 'प्राणमय
कहा गया । आत्मा ने चाहा कि प्राण की यह उलट-फेर
न हो वरना आनन्द नहीं मिल सकेगा । तलाश करने के
उस पर कोई हथियार नहीं रहेगा इसलिए प्राण को
रखने के लिए अन्न की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस
के द्वारा वह स्थूल बन कर भोग करने लगा और विष
आनन्द ढूँढ़ने लगा । यही स्थूल 'अन्नमय कोश' बन ग

विचारिये ! इस प्रकार अकेले आनन्द ने आत्मा क
में डाल यहाँ ढकेल दिया इसलिए कह सकते हैं कि नी
ऊपर तक प्रत्येक कोश में इसी आनन्द का खेल हो रह
वह प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक स्थान में किसी न किसी

थोड़ा बहुत भासता तो है परन्तु वास्तव में है नहीं । उसका असली स्थान ऊपर था वह हम से वहाँ ही छुट गया केवल बिम्ब उसका यहाँ है असल नहीं है ।

बस ! इस प्रकार प्राणी इस गोरखधन्धे में जकड़ कर असलियत को भूल बैठे । अब न उनको अपने रूप का ही ज्ञान रहा और न आनन्द ही पास रहा । दुःखी हो सिर पटकने लगे ।

वृत्ति और उपाय

अब आपने समझ लिया होगा कि जो धार आत्मा की प्रकृति से टकरा के अथवा उसमें बिम्ब डाल के फिर आत्मा की ओर लौटा करती है उसको 'वृत्ति' कहते हैं । यही एक वृत्ति पंच कोशों में बँटकर पाँच हो जाती है -- (१) प्रमाण, (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा और (५) स्मृति । बस यही पाँचों वृत्तियाँ हमको अँधेरे में घुमा रही हैं, हम कभी इधर को जाते हैं कभी उधर को । इनकी आड़ में आत्मा का असली प्रकाश छिप गया है और अज्ञान का अन्धकार छा गया है । हम अपनी असली भण्डार से जुदा हो गये हैं । यदि किसी तरह इनको दूर हटा सकें तो हमारी फिर उस वस्तु से मिलाप व योग हो जाय । इसीलिए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं -- 'योगाश्चित्तवृत्तिनिरोधः' । अर्थात् -- चित्त की वृत्तियों के निरोध (मेट देने) से ही योग होता है ।

योग वा मिलाप

मिलाप और योग तो हर समय ही है लेकिन वृत्ति के उलट-फेर ने बिम्बित होकर फर्जी ख्याली और वहमी तौर पर उसे ढक रक्खा है यदि यह हमारा वहम (भ्रम) किसी प्रकार दूर

हो जाय, यह हमारे पर्दे उतर जायें, यह गिलाफ या कोश
ऊपर से साफ हो जायें, तो फिर हमारा पूर्ण मिलाप तथा
योग हो जावे । और इसी योग वा मिलाप के लिये दुनिय
सारे साधन वा उपाय हैं ।

इन्हीं पर्दे या गिलाफों को कोई हठयोग से,
उपासना वा भक्तियोग से, कोई विचार और ज्ञान से दूर
की कोशिश करता है । हमको इन तीनों से भिन्न कुछ
सरल और साधारण साधनों का अनुभव हो चुका है कि
बड़ी ही जल्दी इनको फाड़ साक्षात्कार करा देते हैं और स
आनन्द के धाम में पहुँच अपना यथार्थ रूप देख लेता है
यह साधन वही है कि जिनको आप सब कर रहे हैं ।

* ओ३म् शम् *

शान्ति का रहस्य और विचार धारा से उसका सम्बन्ध

****

☆

शान्ति क्या है ?

जहाँ अच्छी और बुरी वासनाएँ न हों, जहाँ वासनाओं की पूर्ति या आपूर्ति में हर्ष-शोक, राग-द्वेष एवं क्रोध-मोह इत्यादि द्वन्द्व न हों, उसी का नाम शान्ति है । वास्तव में शान्ति ही असली सुख है, यही माया से परे की वस्तु (मुक्ति) है, यह परमधाम है, यही निर्वाण है, यह कैवल्य है । जीवात्मा सदा ही शान्ति का इच्छुक रहता है, यही उसका स्वाभाविक गुण है, उसी के लिये सारे उद्योग करता है । परन्तु बहुत कम लोग दुनियाँ में होते हैं कि जिन्होंने जीवन में शान्ति का स्रोत ढूँढ़ पाया हो और उस अमृत-जल का पान किया हो । इस भव जाल में से निकलने का इरादा करना ही महा कठिन है । अनेक विघ्न आते हैं, अनेकों रुकावटों का सामना करना होता है, अनेकों आसुरी और दैवी शक्तियों से संग्राम करना होता है,

अनेकों रोड़ों को मार्ग से हटाना होता है, तब कहीं इसका मिल पाता है ।

शांति का रोड़ा -- चिंता

इन सारे विघ्न-बाधाओं में से जो सबसे अधिक मन आकर्षित करने वाली, अति शीघ्र अपने प्रभाव में लाने व और ध्येय से विमुख करने वाली जो वस्तु है, वह चिन्ता इसके वश में आया हुआ मनुष्य अपने दीन और दुनियाँ को खो बैठता है । जिस मस्तिष्क में इस चिन्ता के की प्रवेश कर जाते हैं, उसे न सोने देते हैं, न खाने देते हैं, न शरीर या मस्तिष्क से प्रसन्न रहने देते हैं । परिणाम स्वास्थ्य गिर जाता है और वह संसारी व्यवहार में निक साबित होता है । ऐसी चिन्ताओं का सताया हुआ अस मनुष्य स्वयं अपनी नजरों में गिर जाता है और दूसरे लोग उसे बुरी निगाह से देखने लगते हैं । इस तरह आगे चल वह निहायत निकम्मा आदमी बन जाता है । चिन्ता उ उत्साह को भंग करके केवल निकम्मा ही नहीं बना देती ब उसे बेक़ार करके इतना गिरा देती है कि फिर कहीं ठिक नहीं लगता । इस चिन्ता से किसी तरह पीछा छुड़ा लेना शान्ति है । चिन्ता ही बन्धन है, चिन्ता ही दुःख है, चिन्ता माया की प्रबल धार है । जिसने इससे मुक्ति पा ली महापुरुष 'मुक्त' है । जो पुरुष आगे और पीछे की बातें सोचता, वर्तमान में ही अपनी स्थिति कर लेता है, वही है, वही मुक्त है ।

चिंता क्या है ?

विचार के एक से सिलसिले को बिना तबदील

और बिना नतीजे पर पहुँचे दुहराते रहना और दिमाग में उसकी ख्याली शक्लें बनाते रहना 'चिन्ता' कहलाती है । साधारणतया कोई मनुष्य इस काम को रोक नहीं सका, उसके बिना इरादा किये भी यह शक्लें सिनेमा की फिल्म की तरह अन्दर बनती और बिगड़ती रहती हैं और यह सब अनाधिकारी अवस्था में होता रहता है । जैसे थके हुए शरीर में माँसपेशियाँ व पट्ठे (muscles) बिना इरादे के स्वयं ही हरकत करती या थरथराती रहती हैं और आराम लेने पर थोड़ी देर बाद शान्त हो जाती हैं, उसी तरह चिन्ताओं का मारा हुआ दिमाग कभी खामोश नहीं बैठ सकता, उसकी हरकत कभी बन्द नहीं हो सकती । वह इच्छा न होते हुए भी उन्हीं ख्यालों को दुहराता रहता है कि जिनकी ठोकर से वह अशांत हुआ था । ऐसे मनुष्य कोशिश करने पर भी कभी शान्ति के दर्शन नहीं कर पाते, उनका दुर्बल दिमाग बार-बार कोशिश करने में फेल हो जाता है । यदि किसी गहरी कोशिश से उन ख्यालात को दबा देने में वह थोड़ी देर की सफलता भी प्राप्त कर ले तो भी शान्ति या इत्मीनान नहीं होता । विचारों को तो रोक दिया परन्तु अपने प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर उसे नहीं मिल पाया, इसलिए उस समस्या का हल क्या होगा, इस इन्तजार में रहता है । यहाँ भी उसे शान्ति नहीं मिल पाती ।

आगे-पीछे

देखा यही गया है कि अधिकतर लोग आगे-पीछे की बातों में अपना मस्तिष्क खपाते रहते हैं । पीछे जो कुछ कर चुके हैं उस पर अफसोस करने में या तो उनका समय जाता है अथवा आगे आने वाली घटनाओं पर ख्याली-पुलाव पकाने में उनका बेकार वक्त खर्च होता है और आगे का खौफ उन्हें

परेशान किये रहता । जहाँ तक भय है वहाँ शान्ति कैसी
आगे आने वाली तकलीफों का खौफ उन्हें सदैव बेचैनी
रखता है और उनकी शक्ति को बेकायदा (अनियम-पूर्वक
बहाता रहता है । स्वर्ग के निवासी देवगणों को सर्व सुख हैं
इच्छा होते ही इच्छित वस्तु उन्हें प्राप्त हो जाती है परन्तु काल
समाप्त होने पर स्वर्ग से गिरने का भय उनके दिल को भी
अशान्त बनाये रखता है, शान्ति वहाँ तक भी नहीं है, इसक
स्थान देवलोक से भी परे है ।

ऐसा भी होता है कि जिन रूपों को, जिन तदवीरों य
उपाय को हम अस्वीकार कर चुके हैं वही अनाधिकारी दशा
बार-बार हमारे सम्मुख आती है और हम कोई निर्णय नहीं क
सकते, बल्कि उनके कारण परेशानी में पड़ जाते हैं । जितना
जितना हम इन बातों को परे हटाने और उनसे दूर भागने की
कोशिश करते हैं उतनी ही अधिक इनकी प्रतिक्रिया (Reaction
होती रहती है और यह क्रिया और प्रतिक्रिया स्वप्न में, ध्यान
की अवस्था में और कभी-कभी निचली समाधि में भी हमार
पीछा नहीं छोड़ती । इस प्रकार यह विचार धारा अपने प्रबल
वेग से हमको परेशानी में डाल देती है । उस समय हमारे सूक्ष्म
और बौद्धिक शरीर ही इसके अत्याचार के प्रभाव में नहीं रहत
बल्कि हम स्वयं (Self) भी गुलाम बन जाते हैं ।

हमारे अन्दर प्रथम विचार की एक धारा अपना रास्त
बनाती है फिर आगे नये-नये विचार उठते हैं और उसी रास्त
से बहने लगते हैं इसलिये कि उस रास्ते में रुकावट कम होती
है । जिस प्रकार प्रेम के उदय होने पर प्रेममयी विचार हृद
में छा जाते हैं और भावों की लड़ी उगा देते हैं उसी तरह भ
और खौफ के खतरनाक ख्याल भी बारम्बार उठते औ

मस्तिष्क में भर जाते हैं । यदि ऐसा हुआ तो आगे क्या होगा ? जहाँ ऐसे विचारों ने सिर निकाला कि चिदाकाश अथवा ईथर (Ether) में कम्पन्न उत्पन्न हुआ, उसकी टक्कर से दिमाग के पंख (Cells) थरथराने लगे और वहाँ से एक लाइन (रास्ता) नीचे को बन गई जिसमें होकर शक्ति बह-बह कर नीचे गिरने लगी । इस प्रकार शक्ति के ह्रास से हम अशान्त बन जाते हैं ।

उपाय

चाहे किसी प्रकार की अशांति हो उससे छुटकारा पाने का सबसे अधिक सरल उपाय एक दूसरा ऐसा रास्ता या नाली बना देना है जो उसके बिलकुल खिलाफ (विरुद्ध या मुतजाद) हो जैसा कि योग सूत्र में आया है --

''*मैत्री करुणा मुदितोतेक्षाणा सुखदुःखपुण्यापुण्य-*
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।'' (समाधिपाद ३३)

ऐसे रास्ते का बनाना कुछ कठिन काम नहीं है । एक निश्चित और दृढ़ विचार में अपने को लगा देने से, एक निर्भयता का भाव हृदय में उदय कर लेने से यह नाली अपने आप तैयार होने लगती है । और ज्यों-ज्यों हम दृढ़ संकल्प के साथ उस भाव को पकड़े रहते हैं, वह चौड़े राजमार्ग का रूप धारण करती जाती है और अच्छी खासी सड़क बन जाती है, पिछड़ी पगडण्डी बन्द हो जाती है और हम सब इस चौड़े और सुखमय मार्ग पर गमन करने लगते हैं, और सुखी व शान्त होते हैं ।

भाव क्यों हो ?

भय व चिन्ता के समय का उपाय महर्षि बतलाते हैं –

'ईश्वर-प्राणिधानाद्वा' अर्थात् ईश्वर के आश्रित हो जाओ अपने को उसकी गोद में डाल दो, अपने को समर्पण क निश्चिन्त हो बैठो। यह भय से मुक्त होने का उपाय है। ह कहते हैं, ईश्वर के लिये प्राणिधान करना अति कठिन है। ऐ भाव बना लेना और मन को चारों ओर से समेट कर ऐसे चरणों में चढ़ा देना जिसे हमने देखा तक न हो और मन क्रियाहीन कर देना खेल नहीं है। महान् उच्चकोटि के साध भी समर्पण में फेल होते देखे जाते हैं। मुख से कहना औ बात है, मगर कर दिखाना दूसरी बात है। इसलिये पहले 'गु प्रणिधानाद्वा' करो, पीछे 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' करो।

गुरु को अपना परम हितैषी जानो। उसे हर सम रक्षक के रूप में अपने संग देखो। उसे अपना पिता समझ की कोशिश करो। वह देखा-भाला है। उसका समीपत्व तु मिल चुका है। उस पर कुछ तो विश्वास तुम्हारा आ ही चुक है। अब इसी भावना को आगे बढ़ाते चलो। धीरे-धीरे पु के रूप में, मित्र के रूप में, सेवक के रूप में उसकी हुजू (सेवा-उपासना) में आओ और अपने को उस पर निर्भर कर चलो। वर्षों में तुम्हारा यह संकल्प पूरा हो सकेगा। साधन की अन्तिम अवस्था में तुम समर्पण कर निश्चिन्त हो बै सकोगे। उसी समय शान्ति और निर्भयता हाथ जोड़े तुम्हा सम्मुख आ जायेगी।

यह आवश्यक नहीं है कि चौबीसों घण्टों का तुम्हा समर्पण हो, नये साधक ऐसा नहीं कर सकते। ऐसे लोगों क उचित है कि भय के समय गुरु का चिन्तन करें, उसे अपन रक्षक व सम्पूर्ण सामर्थवान समझ के अपने समीप देखें। ऐस

दृढ़ भावना लायें कि वह (गुरु) यहीं उपस्थित हैं और मैं उनके आश्रय में खड़ा हूँ । अब कोई भी ताकत मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती, किसी भी शक्ति के धक्के से मेरा बाल बाँका नहीं हो सकता । ऐसा निश्चय जहाँ मन में आया नहीं कि अशान्ति और भय दूर भाग खड़े होते हैं और वह शान्त एवं निर्भर हो जाता है । इसी भावना को बढ़ाते-बढ़ाते जीवन में ले आना शान्ति का उपाय है ।

प्रातःकाल शान्त वातावरण में बैठकर पाँच या सात मिनट ऐसा चिन्तन करना कि मैं गुरु के सम्मुख बैठा हूँ, गुरु वहाँ ही उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बात अच्छी या बुरी, सुख व दुःख की, वह जानते हैं, मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति उनकी कृपा से होती चली आ रही है, वह सर्वज्ञ हैं, ईश्वरीय सारी विभूतियाँ उनके आधिपत्य में हैं, वह मेरे हैं, मैं उनका हूँ इत्यादि उपरोक्त भावना के दृढ़ करने की क्रिया है । प्रथम इसकी कभी-कभी झलक मिलती है, आगे जीवन में आ जाती है और अद्‌भुत शान्ति देती है । परेशानी दूर करने की यह भी एक सरल क्रिया है । इससे विचार धारा बदल जाती है और भय जाता रहता है ।

पूर्ण शान्ति का सबसे ऊँचा साथन तो 'राजी व रिजा' है । इसमें अपने को मालिक की मर्जी पर छोड़ दिया जाता है । सुख व दुःख आनन्द व विपत्ति, जो कुछ हमारे ऊपर आती है उनके लिये ऐसा विचार ले आना होता है कि यह सब हमारी भलाई के लिये हो रहा है, हमारे बुरे संस्कारों के फल दग्ध हो रहे हैं । डाक्टर जब मरीज के फोड़े को चीरता है, मरीज को कष्ट होता है, परन्तु उसमें उसकी भलाई दबी रहती है ।

इसलिए उस दुखदायी पीड़ा को रोगी खुशी से सहन करता
समझता है कि इसका परिणाम आनन्द होगा, सारे कष्ट च
वे किसी की ओर से आये हों, किसी प्राणी के द्वारा पहुँचे
ईश्वरीय मर्जी से आते हैं और धैर्य से सहन कर लेने पर उ
ही जन्म-मरण का चक्र टूटता और मुक्ति होती है । भगव
दुखियों के ही भाग्य की चीज हैं, सुखी मनुष्य न तो उ
भजता है और न वह उसकी चिन्ता करते हैं । इसलि
विपत्तियों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना और उस दशा
भी अपने प्यारे के लिए धन्यवाद भेजना साधक का धर्म
परन्तु इतनी सहन शक्ति अपने अन्दर ले आना प्रत्येक का व
नहीं है । हाँ, धीरे-धीरे स्वभाव बनाने का प्रयत्न करना उचि
है ।

सारा ही शांति का रहस्य विचार धारा से सम्ब
रखता है यदि विचार शांत हैं तो हम शान्त और हमारे च
ओर की दुनियाँ शान्त है अपने अन्दर किसी शोक, म
इत्यादि के द्वारा यदि अशान्ति है तो चारों दिशा में हम
अन्धकार ही दिखाई देगा इसलिए ही महर्षि पातञ्जलि ने
बात पर जोर दिया कि चित्त को शांत करो, विचार अ
वृत्तियों का निरोध कर डालो, वही शान्ति, वही दर्शन अ
वही आनन्द है, सूत्र है -- "योगश्चितवृत्तिनिरोधः" । अथ
चित्त की वृत्तियों के निरोध से योग या मिलाप होना है

विचार और उसका प्रभाव

जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियाँ हैं उसी प्रकार हम
अन्दर भी कुछ इन्द्रियाँ हैं जो अन्तःकरण में रहती हैं ।
अन्दर और बाहर की प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति जुदा-जुदा

उनके काम भी अलग-अलग हैं । इन्हीं में से मन, चित्त और बुद्धि तीन अन्तरीय शक्तियाँ हैं । मन के अन्दर संकल्प शक्ति है, चित्त के अन्दर विचार शक्ति (Thought Power) रहती है और बुद्धि के अन्दर विवेक शक्ति, स्मरण शक्ति और ज्ञान शक्ति रहती हैं, इन अपनी-अपनी शक्तियों के द्वारा यह अपना-अपना काम करते रहते हैं । इन तीनों में मन की शक्ति का वेग सबसे प्रबल है और उसी के सहारे चित्त बुद्धि और इन्द्रियों के कार्य होते हैं, वह शक्ति जिधर को बहती है उधर ही सबको बहा ले जाती है । मनुष्य इसी की प्रबल धारा में पड़ा हुआ उछल-कूद किया करता है जिसने इससे छुटकारा पा लिया वह सारे दुःखों से परे शान्ति के धाम में पहुँच गया ।

चित्त भी इसी मन का दूसरा पहलू है, प्रथम चित्त ही अपना काम शुरू करता है, उसी के अन्दर प्रथम ईक्षण उत्पन्न होता है । उस ईक्षण से क्षोभ उत्पन्न हो विचार का जन्म होता है और आगे दुनिया के सारे काम इन्हीं दो विचार शक्ति और संकल्प शक्ति के द्वारा होने लगते हैं । शास्त्रीय भाषा में 'वृत्ति' या वासना इत्यादि के जो शब्द मिलते हैं वह सब विचार शब्द के ही अन्तर्गत हैं । इस विचार की फुरना होने के समय चित्त में एक धड़कन या हरकत उत्पन्न होती है । इस फड़कन से चिदाकाश थरथराने लगता है और उसमें तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, आगे यही तरंग मन में ठोकर दे उसकी इच्छा शक्ति को चालू कर देती हैं । यह इच्छा शक्ति बुद्धि पर प्रभाव डालती है और बुद्धि अहं और जीवात्मा को अपने जेरअसर ले जाती है । इस प्रकार एक विचार हमारे स्थूल, सूक्ष्म और मस्तिष्क (Mental) सबको थरथरा देता है । यही कारण हमारे अशान्त रहने का है । यदि किसी प्रकार हम अपने चित्त को क्षोभित

होने से रोक सके और अपने अन्दर कम्पन (Vibration) पैदा होने दें तो हमारी सारी इन्द्रियाँ और सारी शक्तियाँ शा रह सकती हैं और हम शान्ति की रहस्यमयी गोद में आन की निद्रा ले सकते हैं ।

एकाग्रता और निरोध

इस काम के लिये हमको साधना करनी होगी, जो लो इसके मास्टर हैं, उनसे इसका सबक लेना होगा, नित्य प्र बिना नागा किये उसका अभ्यास करना होगा तब कहीं बर में लगातार परिश्रम से मन और चित्त पर अधिकार हो सके और हम सैकिण्डों या मिनटों को उसे (चित्त और मन क शान्त देख सकेंगे और इनकी शान्ति ही हमारे लिए विश्व शान्ति का अनुभव करायेगी ।

शान्ति की प्राप्ति के लिये जब हम मन पर अधिक जमाने का उद्योग कर बैठते हैं तो दो अवस्थाओं से हम गुजरना होता है । प्रथम -- एकाग्रता और द्वितीय -- निरोध एकाग्रता में मन को एक ध्येय पर, एक बिन्दु पर रोका जा है, यद्यपि चञ्चल मन को कि जिसका स्वभाव ही बाहर भा और क्षण-क्षण में एक वस्तु से दूसरी पर जाने का जन्मान्तर हो रहा है उसको एक वस्तु पर रोकना महा कठिन काम इस एकाग्रता से अधिक कोई काम दिमाग को इतना बोझि नहीं मालूम देता । उसके (दिमाग) सारे पट्ठे कसे जाते हैं, एक खूँटे से खींच बाँध दिया जाता है, उनकी अनेकों जन्मों आदत छुड़ाई जाती है, इसमें उसे बहुत कष्ट होता है । उस हालत एक ऐसे घोड़े की सी हो जाती है, जो जंगल से प के रस्सी से खींच के बाँध दिया जाय और प्रथम बार उ जबड़े में लगाम चढ़ा दी जाय ।

शास्त्र कहता है -- 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इसका अर्थ है कि मनुष्य का दिमागी शरीर उसकी शकल में ढल जाता है जिसका ख्याल कायम किया जाता है । ऐसी एक ही शकल बिना तबदीली आँखों के सम्मुख रखना 'एकाग्रता' कहलाती है । दिमागी जिस्म (Austral body) की हर समय तबदीली होने वाली हालत को रोक देना और उसका एक ही इच्छित रूप में ढालकर लगातार कायम रखना एकाग्रता है । स्थिरता पूर्वक एक ही शकल को दिल में कायम रखना और उसी साँचे में सारे अन्तःकरण को ढाल देना एकाग्रता कहलाती है । एकाग्रता में सिवाय उस वस्तु के न तो अपना ध्यान रहता है और न किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान रहता है ।

इस एकाग्रता की दशा में जब पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो जाती है और हृदय उसी शकल में ढल जाता है तो उस समय वह अपने ध्येय के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंग का ज्ञान प्राप्त करता है, इससे मन, चित्त और बुद्धि की शक्तियाँ प्रबल होती हैं और उसके अन्दर अनेकों विभूतियों का जन्म हो जाता है । सिद्धियाँ और करामात और कुछ नहीं हैं केवल एकाग्र मन के तमाशे हैं । चाहे मन्त्र से, चाहे हठ या राजयोग से, चाहे भक्ति या उपासना के साधन से अपने मन को एकाग्र करना सीख लो सारी ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तुम्हारे सम्मुख आके खड़ी हो जायेंगी और तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे ।

जिस तरह शारीरिक मेहनत हमको थकावट देती है उसी तरह यह दिमागी वर्जिश (Mental Exercise) भी हमारे दिमाग को थकाती है, परन्तु यह थोड़े ही दिन रहता है, धीरे-धीरे स्वभाव बनता जाता है और फिर हम इस काम के लिये पक्के हो जाते हैं । इसलिए यह नियम है कि अभ्यास शुरू-शुरू

में अधिक न करें, उतना ही करें जिससे दिमाग थकावट न महसूस करे । एकाग्रता की साधना पुख्ता हो जाने पर एक सिद्धि हमको ऐसी मिलती है कि जिसके द्वारा ख्याल करते ही सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान हो जाता है । किसी बड़े से बड़े सिद्धान्त के लिये, किसी बड़ी से बड़ी समस्या के लिये उसे सोचने की आवश्यकता नहीं होती । उसके दिमाग के (Cells) खुल जाते हैं और स्मरण शक्ति तीव्र हो जाती है । जहाँ एकाग्रता शांति देती है वहाँ पर वस्तुएँ भी अर्पण करती है ।

एकाग्रता के अभ्यास में दो काम करने होते हैं -- (२) हमारे मस्तिष्क में कोई विचार न घुसने पाये और (२) चित्त की अन्दरूनी क्रिया भी बन्द हो जाये ताकि अन्दर विचारों का धुँआ न उठे । इन दो कामों में ही थोड़ा परिश्रम करना होता है । यदि हमारा गुरु (Instructor) अनुभवी होता है तो उसकी सहायता से थोड़ा आसानी हो जाती है । थोड़े परिश्रम और थोड़े समय में उसके सहारे हम आगे बढ़ सकते हैं । प्रथम काम के लिए साधक को अपना मस्तिष्क ऐसा बनाने की आवश्यकता होती है कि वह सिवा अपने ध्येय के दूसरे विचारों की ओर तवज्जह (Attention) ही न करे । जब तक मन का उधर भटकना बन्द न हो जाय, ध्यान का कुछ भाग इस रोक-थाम में खर्च करना होता है । जब रोक-थाम करने का विचार मस्तिष्क में रहता है, तब तक भय ही रहता है । इसलिए हमारी धारणा ऐसी दृढ़ और पक्की होनी चाहिये कि बाहर से कोई भी विघ्न उस पर अपना प्रभाव न डाल सके ।

दूसरी अन्तर की क्रियाओं का बन्द करना है । हमारा मन जब वाह्य जगत् से सिमट कर अन्तर में चला जाता है तो वहाँ भी उससे मौन नहीं रहा जाता । वह अपनी पुरानी

स्मृतियों को याद करके अंतर ही में कल्पित रचना कर लेता है और उनसे केल खेलने लगता है। जैसा कि वह स्वप्नावस्था में किया करता है, वैसा ही ध्यान के समय भी अपनी उधेड़-बुन लगाये रहता है। हमको यह सब भी बन्द करना होगा और उसे एक संकीर्ण मार्ग से ले चलना होगा जहाँ सिवा उस ध्येय के जिसे हमने ध्यान के लिए चुना है और कुछ दिखाई ही न दे। इन दो कामों के कर लेने पर हम साधना के अधिकारी बन सकेंगे। और धारण के साधन पर पहुँच सकेंगे। आगे ध्यान और समाधि में जाने के लिए उसके परे भी हमें पहुँचना होगा।

एकाग्रता में बड़ी विचित्र शक्ति होती है। यह मन की समेटी हुई शक्ति सभी कुछ करने की सामर्थ्य रखती है। फैला हुआ जल कोई काम नहीं कर सकता। पर उसी जल को एकत्रित कर एक धार में प्रवाहित करने पर उससे अनेकों मशीनें चलाई जा सकती हैं, विद्युत पैदा की जा सकती है। ऐसा ही मन की शक्तियों का हाल है। भाप (Steam) खुली हवा में उड़कर वायु में लोप हो जाती है, एक छोटे से छोटे तिनके को वह हिला नहीं सकती पर वही भाप जब एक पतली नली में होकर निकाली जाती है तो बड़े से बड़े इंजनों को खींच ले जाती है।

बाहरी विचारों का प्रभाव रोकने से अंतर की क्रिया बन्द करने का काम कठिन है। उसका दबाव बड़ी मुश्किल से हटता है क्योंकि उसका सम्बन्ध गहराई में जाकर हमारी ही जीवन शक्ति से होता है। अंतरीय जगत् के खामोश करने की अपेक्षा बाहरी दुनियाँ से मुँह मोड़ लेना आसान है क्योंकि वहाँ अपना ही अहंकार, अपना ही मन उन तमाशों में फँसा होता

है । यदि हम मन और अहं के ये खेल बन्द कर सकें तो हमक
अपनी शक्तियों का और इस मिथ्या जगत् का यथार्थ ज्ञान प्राप्
हो सकता है और यही ज्ञान हमको शांति दे सकता है । जि
बातों को हम पुस्तकों में पढ़ा करते थे, दूसरों के मुख से सुन
करते थे कि हम (Self) दूसरी चीद है और मन इत्यादि हमा
अधीन दूसरी वस्तुयें हैं, शरीर हमारा है, हम शरीर से अल
हैं, हम न जन्मते हैं, न मरते हैं, एक लोक छोड़कर दूसरे
चले जाना मृत्यु है, इससे हमें क्या कष्ट हुआ और हमार
किया बिगड़ गया, जब तक यहाँ हैं, यहाँ की चीजों से सम्बन
है, वह हमारी हैं, चल दिये -- यहाँ का कारोबार छोड़ा, साथ
छोड़े और सारी वस्तुयें जो शरीर व्यापार के लिए एकत्रित
थीं, छोड़ दीं, फिर इससे क्या काम ? दूसरे स्थान पर पहुँच क
फिर इकट्ठी कर लेंगे इत्यादि । जब मन की स्थिरता हमक
मिल जाती हैं तो इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष सम्मुख आ जात
है, उस समय ममत्व छूट जाता है, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख
दुःख इत्यादि के द्वन्द्व से परे हट जाते हैं और हम शांत
आनन्द के सागर में तैरने लगते हैं । इतने काम को लिये य
सब करना चाहिए क्योंकि इससे बढ़कर और कोई परम सु
वा शांति नहीं है ।

साधन प्रकाशन

डैम्पियर नगर, मथुरा